॥ ओ३म् ॥

वैदिकन्यायप्रबोधः

सत्यासत्यविवेकाय पाखण्डमतनिरसनाय च

ओ३म्

Rishi Mantavya

कृण्वन्तो विश्वमार्यम्

वैदिकन्यायप्रबोधः

संपादक

संदीपन रॉय

लेखक

सूरज आर्य

॥ भूमिका ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
।परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
।धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।
~ गीता ४/६-७

गीता के इन वचनों से श्रीकृष्ण अपनी इच्छा प्रकट करते हुए यह कहते हैं कि जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब वे अवतरित होना चाहते हैं। अतः इससे एक बात स्पष्ट होती है कि धर्म-हानि हर कालान्तर में होती रही है, और उसके विनाश हेतु कोई न कोई महापुरुष खड़े होते रहे हैं।

महाभारत के समय एवं उसके बाद पतन होना प्रारम्भ हुआ, इसीलिए महाभारत में यह आता है—
खुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् । धूर्तैः प्रतितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥

अर्थात् सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल और चावल की खिचड़ी—इन पदार्थों को धूर्त लोगों ने प्रचलित कर दिया है। वेदों में

इनके उपयोग का विधान नहीं है।

यह अत्यन्त स्पष्ट है कि महाभारत के बाद पतन प्रारम्भ हुआ, तथा कुछ पाखण्ड महाभारत-काल से ही चले आ रहे हैं। इसी प्रकार वैदिक ऋषियों एवं वैदिक वाङ्मय में तोड़-मरोड़ करना, गलत अर्थ करना तथा प्रक्षेपों के कारण वैदिक धर्म का पतन आज तक होता आ रहा है। इसी काल में बहुत-से व्यक्ति आए, जिन्होंने धर्म के यथार्थ को न समझकर वैदिक धर्म का गलत अर्थ किया और उसी के मूल सिद्धान्तों का खण्डन किया। जैसे अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत जैसे दर्शन धर्म को सही से नहीं समझ पाए, इसलिए ऐसे अवैदिक दर्शन बने।

लेकिन अब कलियुग है। पहले के समय में आचार्यों में अपनी स्थापना को प्रस्तुत कर उसका मण्डन तथा पूर्वपक्ष का खण्डन करने की सामर्थ्य होती थी। परन्तु आज ऐसा नहीं है। आज के समय में पाखण्डी एवं अधर्मी अपने पक्ष को छिपाकर वैतण्डिक बनकर पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि कलियुगी अवैदिक सिद्धान्तों में इतना सामर्थ्य नहीं है कि वे अपने पक्ष को स्पष्ट रूप से रख सकें। इसी वैतण्डिक विचारधारा का प्रदर्शन करते हुए कुछ निबलकोट द्वारा रचित "समाजी नीरस" नामक पुस्तक के खण्डन हेतु यह "वैदिकन्यायप्रबोध" लिखा गया है। इस पुस्तक का उद्देश्य सत्य-असत्य का निर्णय तथा वैतण्डिकों के पक्ष एवं प्रश्नों का छेदन-भेदन करना है।

ग्रन्थ की शैली के विषय में यह कहना है कि यह ग्रन्थ शुद्ध हिंदी एवं संस्कृत भाषा में लिखा गया है, तथा तर्क आदि के लिए न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों और शब्दावली का उचित उपयोग किया गया है। अतः हम लेखकों का यह विनम्र निवेदन है कि पाठक हिंदी, संस्कृत एवं न्याय आदि का भली-भाँति अध्ययन करें, जिससे प्रत्येक तर्क का यथार्थ स्वरूप समझ में आ सके।

कठिन शैली का उद्देश्य अपनी विद्वत्ता सिद्ध करना नहीं, अपितु पूर्वपक्ष के अहंकार को तोड़ना है; क्योंकि पूर्वपक्ष की पुस्तकों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने स्वेच्छा से कठिन शैली का उपयोग किया है। उसके प्रत्युत्तर में हमने भी यही किया है। अतः यह पुस्तक बालकों के लिए नहीं है।

ग्रन्थ के विषय में कुछ मुख्य बातें ये हैं कि "सिद्ध" शब्द सिद्धान्त अर्थात् उत्तरपक्ष का वाचक है और "पूर्व" शब्द पूर्वपक्ष का वाचक है। जो-जो मुख्य वचन थे, उन्हें लाल रंग से लिखा गया है। तथा जितने भी मंगलाचरण और प्रसतियाँ लिखी गई हैं, उन्हें पूर्वपक्ष के मंगलाचरण का उत्तर समझा जाए; क्योंकि मंगलाचरण की शैली का आधार पूर्वपक्ष में प्रयुक्त मंगलाचरण की शैली ही थी। इसी के साथ यह भूमिका समाप्त होती है। ईश्वर से प्रार्थना है कि इस ग्रन्थ को पढ़ने वालों को सद्बुद्धि प्रदान करे।

इति भूमिका समाप्ता।

॥ मंगलाचरण ॥

ओ३म् अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं ज्ञानदीपं च वन्दे धर्मप्रकाशकम्॥ वेदानां दिव्यवाणीं तां सत्यधर्मप्रदायिनीम्। ऋषीणां तपसां सिद्धिदां नमामि जगदीश्वरीम्॥ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। इति वेदानुशासनं सर्वलोकहितप्रदम्॥ येषां कृपया तत्त्वं च वेदमार्गश्च प्रकाशते। तेभ्योऽहं प्रणतो भूत्वा ऋषीणां शरणं गतः॥ आर्याणां दीपकं श्रेष्ठं वेदभक्तिविवर्धकम्। स्वामि दयानन्द नमामि सत्यप्रचारकम्॥ अज्ञानतमसो हन्ता धर्मजागरणकारकः। वेदोक्तसत्यसम्पन्नः सन् पावनं मार्गं दर्शयति॥ तत्सवितुर्वरेण्यस्य भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः॥ विश्वे देवा प्रसीदन्तु ब्रह्मविद्या च वर्धताम्। ऋषयोऽनुगृह्णन्त्वस्मान् स्वामि दयानन्दोऽर्च्यताम्॥ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। वेदमार्गेण नः सदा लोकानां मङ्गलं भूयात्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मैं अग्नि, जो यज्ञ का पुरोहित, देवस्वरूप ऋत्विज्, ज्ञान का दीपक और धर्म का प्रकाशक है, उसे नमस्कार करता हूँ; मैं वेदों की उस दिव्य वाणी को वन्दन करता हूँ जो सत्य और धर्म को देने वाली है, तथा ऋषियों की

तपस्या की उस सिद्धि देने वाली शक्ति को और जगदीश्वरी को प्रणाम करता हूँ; वेदानुशासन “संगच्छध्वं संवदध्वं” के अनुसार सब लोगों के हित के लिए है; जिन ऋषियों की कृपा से तत्त्वज्ञान और वेदमार्ग प्रकाशित होता है, उनके चरणों में मैं प्रणत होकर शरण लेता हूँ; आर्यों के दीपक, वेदभक्ति को बढ़ाने वाले, सत्य का प्रचार करने वाले स्वामी दयानन्द को मैं नमस्कार करता हूँ वे अज्ञानरूपी अन्धकार के नाशक और धर्म-जागरण के कारण हैं, क्योंकि वे वेदोक्त सत्य से पूर्ण होकर पवित्र मार्ग दिखाते हैं; फिर गायत्री-मन्त्र के अनुसार हम उस परम तेजस्वी देवता के भर्ग का ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे; और सब लोकों में शान्ति हो—द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, विश्वदेव, ब्रह्म और समस्त ब्रह्मविद्या शान्तिपूर्ण हों; ऋषि हम पर कृपा करें, स्वामी दयानन्द का आदर हो, सब प्राणी सुखी और निरोग रहें, तथा वेदमार्ग से सबका कल्याण हो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

विषयसूची

वितण्डाधिकारखण्डनम्—	1-4
मोक्षपुनरावृत्तिनिरासखण्डनम्—	5-30
ईश्वरनिरासभङ्ग—	31-80
जीवानुत्वमण्डनम्—	82-101
जीवकृतत्वविचारः—	102-104
परमाणुवादसमीक्षा—	105-114
शब्दलक्षणनिर्णयः—	115-117
न्यायसत्कार्यवादनिर्णयः —	118-125

॥प्रशस्ति॥

प्रच्छन्नवैतण्डिकाः स्वज्ञानतर्कयोर्गर्विताः, येषां स्वपक्षप्रदर्शने साहसं नास्ति, ये न्यायसिद्धान्तान् पुरुषवेषेणाच्छाद्य स्वसिद्धान्तनपुंसकत्वं गोपयन्ति, ततः पुनर्न्यायमेव खण्डयन्ति—तादृशविधर्मिणां दण्डदातारं रुद्रं नमस्कृत्य, म्लेच्छानां तर्कज्ञानयोश्चूर्णनाय इमं ग्रन्थं प्रारभे।

जो प्रच्छन्न वैतण्डिक अपने ज्ञान और तर्क पर घमण्ड करते हैं, जिनमें अपने पक्ष को प्रस्तुत करने का साहस नहीं है, जो न्याय के सिद्धान्तों को पुरुषवेष में छिपाकर अपने सिद्धान्त की नपुंसकता को ढकते हैं, और फिर न्याय का ही खण्डन करते हैं—ऐसे विधर्मियों को दण्ड देने वाले रुद्र को नमस्कार करके, म्लेच्छों के तर्क और ज्ञान को चूर-चूर करने के लिए मैं इस ग्रन्थ का प्रारम्भ करता हूँ।

॥इति प्रशस्तिः समाप्ता॥

॥ वितण्डाअधिकारखण्डनम् ॥

अतः यहाँ से इस ग्रन्थ के प्रथम विषयरूप पूर्वपक्षप्रतिपादित वितण्डाअधिकारित्वविचार का आरम्भ होता है।

पूर्व — खण्डनप्रधान आचार्य की शास्त्रार्थ में प्रवृत्ति सर्वथा सम्भव है। न्यायसूत्रकार ने तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् (४.२.५०) इत्यनेन स्पष्टतया यह प्रतिपादित किया है कि जिस प्रकार अंकुरित बीज अथवा नवप्ररोह की रक्षा के लिए उसके चारों ओर कण्टकशाखाओं का आवरण किया जाता है, उसी प्रकार जिज्ञासुओं के अन्तःकरण में उदित तत्त्वविद्या की रक्षा के निमित्त जल्प और वितण्डा का भी उपादेयत्व स्वीकार्य है। भाष्यकार ने भी तदेतद् विद्यापालनार्थम्, न लाभपूजाख्यात्यर्थम् (४.२.७१) इति वचनेन यह निर्णीत किया है कि वितण्डा का आश्रय लौकिक लाभ, पूजा, यश अथवा ख्याति के लिए नहीं, प्रत्युत विद्यापालन के लिए है। अतएव हम भी सत्यानिश्चय तथा तत्त्वनिरूपण की अभिलाषा से वितण्डा का अवलम्बन करके कथाप्रवृत्ति करेंगे।

सिद्धा — पूर्वपक्षिन् भवदुपन्यस्त हेतु में एक अत्यन्त उपहासास्पद, स्ववचनव्याघातक तथा तात्पर्यविप्लवजनक दोष निहित है। आप जिस सूत्र का आश्रय लेकर वितण्डा की वैधता सिद्ध करना चाहते हैं, उसी सूत्र के केन्द्रीय पद तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ का अभिप्राय ही आपने ग्रहण नहीं किया। यहाँ मूल प्रश्न यह है कि आप किस तत्त्वाध्यवसाय के संरक्षण के लिए वितण्डा-अधिकार में प्रवृत्त हो रहे हैं? न्यायसूत्रकार का

उद्घोष सर्वविदित है—
प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥
अर्थात् प्रमाणादि षोडश पदार्थों के यथार्थ तत्त्वज्ञान से ही निःश्रेयस की उपलब्धि होती है। अतः यहाँ तत्त्वज्ञान शब्द कोई अनिर्दिष्ट, कल्पित, स्वेच्छानुगत या व्यक्तिनिष्ठ बौद्धिक आग्रह का वाचक नहीं है; वह न्यायप्रतिपादित प्रमाणादि षोडश पदार्थों के सम्यगवगाह्य यथार्थज्ञान का द्योतक है। अब विचार कीजिए—आप वितण्डा का आश्रय लेकर उसी न्यायप्रणीत तत्त्वसंरचना, उसी षोडशपदार्थ-व्यवस्था, उसी प्रमाणपद्धति और उसी तत्त्वमीमांसा पर प्रश्नोद्भावन कर रहे हैं, जिसके संरक्षण के नाम पर आप अपने वितण्डा-अधिकार को वैध सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसी दशा में आपका यह आचरण संरक्षण नहीं, प्रत्युत मूलाधार-भञ्जन है; यह तत्त्वाध्यवसाय की रक्षा नहीं, अपितु उसकी उपपत्तिभूमि के ही विघटन का प्रयत्न है। अतः आपका कथन आत्मविरोध से दूषित है। जिस तत्त्वज्ञान की सुरक्षा के लिए सूत्रकार ने कण्टकशाखावरणवत् वितण्डा की अनुमति दी, उसी तत्त्वज्ञान के आश्रयभूत पदार्थों पर आप संशयारोप, खण्डन-प्रवणता और प्रमाणव्यवस्था-विघटन की चेष्टा कर रहे हैं। तब यह कैसे माना जाए कि आप सूत्रकारोक्त तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थ वितण्डा कर रहे हैं? स्पष्ट है कि न्यायसूत्रकार द्वारा वितण्डा का विधान सर्वथा निराधार खण्डनवृत्ति, निष्प्रतिज्ञ प्रतिपक्षभञ्जन, अथवा सर्वतत्त्वविघातक वाग्वैदग्ध्य के लिए नहीं किया गया है। वह केवल उस दशा में ग्राह्य है, जब कोई साधक, आस्तिक बुद्धि से, न्यायसमन्वित तत्त्वनिश्चय को स्वीकार कर, उसके संरक्षणार्थ, प्रतिपक्ष के कुतर्कों का निरसन करे। वहाँ वितण्डा रक्षोपाय है, न कि विध्वंसोपाय। आपकी स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। आप न्यायसूत्रकार

के अभिप्रेत तत्त्वज्ञान को पूर्वसिद्ध मानकर उसकी रक्षा नहीं कर रहे, बल्कि उसी के प्रमाणाधार, पदार्थ-व्यवस्था और तात्त्विक अधिकारिता को संशयग्रस्त बना रहे हैं। इसलिए आपका यह तर्क कि हम सत्यनिश्चयार्थ वितण्डा का आश्रय लेते हैं प्रथमदृष्ट्या आकर्षक होते हुए भी तर्कतः असंगत, अभिप्रायतः विपर्यस्त, तथा शास्त्रीय दृष्टि से असमर्थनीय है। अतः निश्चयपूर्वक कहना होगा कि न्यायसूत्रकार ने वितण्डा-अधिकार का नियम स्वसिद्धान्तभूत तत्त्वज्ञान के संरक्षण-अभिप्राय से प्रतिपादित किया है, न कि न्यायप्रतिपादित तत्त्वसमूह के ही विघटनार्थ। इस कारण आपका प्रस्तुत हेतु असिद्ध, स्वविरोधदूषित और अन्ततः खण्डित है

पूर्व — हम खंडनहेतु से शास्त्रार्थ में प्रवृत्त होंगे, अतः हमारा कोई स्वसिद्धांत नहीं होगा; क्योंकि हमारी स्थिति वैतंडिक की है। और चूँकि वैतंडिकता में स्वपक्ष-साधन की अपेक्षा परपक्ष-खंडन ही प्रवृत्तिनिमित्त होता है, इसलिए आपके द्वारा अभ्युपगमित न्याय-वाक्यव्यवहार को भी हम स्वीकार नहीं करेंगे। आपके न्याय-वाक्यव्यवहार का प्रमाण क्या है, हम उसे किस प्रमाणबल से मानें, यह प्रथम विचारणीय है। और फिर चार्वाकादि के साथ आप शास्त्रार्थ कैसे करेंगे, क्योंकि वे न आपके अवयवों को मानते हैं, न आपके वाक्यव्यवहार को; अतः न्यायपद्धतिनिष्ठ शास्त्रार्थ की जो रचना आप प्रस्तुत करते हैं, वह सर्वत्र प्रवर्तनीय है—यह भी असिद्ध है।

सिद्ध — खंडनमात्रप्रवृत्ति का हेतु पूर्वमेव खंडित किया जा चुका है, क्योंकि केवल परपक्ष-निरसननिष्ठ प्रवृत्ति से शास्त्रार्थाधिकार सिद्ध नहीं होता; निषेध-वचन भी वाक्यव्यवहाराश्रित होने से वाक्यव्यवहार के सर्वथा-अस्वीकार में स्ववचन-विरोध अनिवार्य हो जाता है। और जिस

वाक्यव्यवहार का आप निषेध करते हैं, उसी निषेध की सिद्धि भी आपने नहीं की; अतः आपके अभिप्रेत व्यवहार की व्यवहारयोग्यता, प्रमाणसंगति और शास्त्रार्थोपयोगिता सब असिद्ध रहती हैं। हमारे पक्ष में न्यायसूत्रोक्त पञ्चावयवसिद्ध वाक्यव्यवहार प्रमाणसिद्ध है; न्यायसूत्र में प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः इति अवयवपञ्चक का निर्देश है, और तत्सिद्ध्यर्थं सूत्रकार क्रमशः साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा, उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः तथा वैधर्म्यात्, साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्, उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः, हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्—इस प्रकार लक्षण निर्दिष्ट करते हैं। इन लक्षणों में न अतिव्याप्ति है, न अव्याप्ति, न असंभव; अतः पञ्चावयवसिद्धि निर्विघ्न सिद्ध है, और पञ्चावयवादि षोडशपदार्थों को स्वीकार किए बिना शास्त्रार्थ की संगत प्रवृत्ति संभव नहीं। जहाँ तक चार्वाकादि का प्रश्न है, वहाँ हम किसी बाह्य विषय में प्रवृत्त न होकर सर्वप्रथम उन्हीं के प्रमाणनिषेध और वाक्यव्यवहार को विषयीकृत करते हैं; उनका मूलाभिप्राय प्रत्यक्षभिन्नानुमानशब्दनिष्ठप्रामाण्यस्य अत्यन्ताभावः इस रूप में ग्रहण करके पहले उसी की साधनसंगति की परीक्षा की जाती है। जो अनुमान और शब्द का सर्वथा निषेध करता है, उसके निषेधवचन की सार्वत्रिकता ही बिना अनुमान के असिद्ध हो जाती है, और उसका वचनरूप प्रतिपादन बिना शब्दव्यवहार के टिकता नहीं; अतः उसका निषेध स्वयं आत्मानुपपन्न हो जाता है। इसलिए चार्वाकादि के साथ शास्त्रार्थ का प्रथम विषय ही उनके निषेध की सिद्धि होती है, न कि कोई अन्य पदार्थ; फलतः आपके समस्त हेतु व्यवहारासिद्धि, प्रमाणानुपपत्ति और स्ववचनविरोध से खंडित हो जाते हैं

॥इति वितण्डाधिकारखण्डनं समाप्तम्॥

॥मोक्षपुनरावृत्ति निरासखण्डनम्॥

अब यहाँ से पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित मोक्षपुनरावृत्तिविषयक आक्षेपों का क्रमशः सम्पूर्ण खण्डन आरम्भ होता है।

पूर्व - सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द कहते हैं -- "जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता।" (सत्या०प्र०समु--९)

ऐसा कोई नियम नहीं। यदि यह नियम मान लिया जाए, तो अनित्य घटादि तथा चैत्रादि से उपजन्यमान ईश्वरज्ञान भी अनित्य मानना पड़ेगा; क्योंकि अनित्य-साधनजन्यत्व जहाँ-जहाँ होगा, वहाँ-वहाँ फलानित्यत्व का प्रसंग अवश्यापन्न होगा।

सिद्ध - ईश्वर में ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, अतः उसमें उक्त दोष का आरोप संभव नहीं। यहाँ अनित्यसाधनकत्वव्याप्य फलानित्यत्व का जो नियम अभिप्रेत है, वह केवल उत्पत्तिमत् फल में प्रवर्तक है, न कि स्वभावसिद्ध नित्यवस्तु में। ईश्वरगत ज्ञान न उत्पत्तिधर्मी है, न विनाशधर्मी, अपितु स्वस्वरूपसिद्ध, अनादि, नित्य, अखण्ड, सर्वविषयक प्रकाशरूप है। अतः अनित्य-साधनजन्यत्वाभाव के कारण उसमें फलानित्यत्वरूप दोष का अवकाश नहीं।

पूर्व - तब तो आपका ईश्वर अनागत कर्मादि का भी ज्ञाता हो जाएगा और आपका सिद्धांत भंग हो जाएगा।

सिद्ध - नहीं; क्योंकि यहाँ नूतन-ज्ञानोत्पत्तिरूप वृद्धि का अभिप्राय ही नहीं है। ईश्वरसर्वज्ञत्व का तात्पर्य यह नहीं कि उसमें क्षण-क्षण नूतन विषयक ज्ञान की उत्पाद्यता मानी जाए, बल्कि यह है कि ऐसा कोई ज्ञेय नहीं है जो ईश्वरज्ञान-विषयता से बहिर्भूत हो। जीवात्मा का कोई कर्म ऐसा नहीं, जो ईश्वरज्ञान में नूतनता-अवच्छेदक धर्म का आधान करे। जैसे यदि कोई जीव कुम्हारभावापन्न होकर घट-निर्माण करे, तो उस कर्मविशेष से ईश्वर में नूतन-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं कही जाएगी; क्योंकि वह कर्म, कर्मसामान्य, कर्तृत्व, करणता, परिणाम, कार्यता, घटत्व, द्रव्यत्व आदि के सहित, ईश्वर के सर्वविषयक ज्ञान में पूर्वमेव अवभासित है। यदि तुम यह कहो कि इस विशिष्ट घट-निर्माण का क्या, तो उत्तर यह है कि उस विशिष्टता से भी ईश्वरज्ञान में वृद्धि नहीं, केवल ज्ञेयपक्ष में व्यवहारभेद है, न कि ज्ञातृपक्ष में ज्ञानोत्पत्तिभेद।

पूर्व--ईश्वर के लिए अतीत तथा अनागत काल नहीं होता। वर्तमान मात्र होता है। जैसा कि विवेकानंद परिव्राजक का कहना है--" उसके लिये सब वर्तमान ही है ईश्वर के लिये भूत, भविष्यत् है ही नहीं।" (तत्वज्ञान पृ०१८)

तब तो कर्म-फल, कार्य-कारणादि समस्त नियम ध्वस्त हो जाऐंगे। दूसरी बात यह है कि आपसे यह अवश्य पूछा जायेगा कि अतीत तथा अनागत काल का वस्तुतः अस्तित्व है अथवा नहीं। यदि आप कहें कि उनका अस्तित्व है, तो ईश्वर को उनका ज्ञान अवश्य होना चाहिए; और यदि उनका ज्ञान नहीं है, तो ईश्वर में असर्वज्ञता का दोष अनिवार्य रूप से उपस्थित होगा। और यदि आप यह कहें कि अतीत और अनागत काल

का कोई अस्तित्व ही नहीं है, तो उनका भान, स्मृति, आशा, भय, योजना तथा उनसे संचालित समस्त सामाजिक, नैतिक और व्यावहारिक व्यवस्था का कोई आधार ही नहीं बचेगा। क्योंकि जिसका अस्तित्व ही नहीं, उसका व्यवहार भी सम्भव नहीं। तीसरी और अधिक गम्भीर बात यह है कि यदि अतीत और अनागत काल ईश्वर के लिये असत् हैं, तो वर्तमान काल भी वास्तव में असत् हो जायेगा। क्योंकि वर्तमान का स्वरूप ही अतीत और अनागत की सापेक्षता से सिद्ध होता है। जो न अतीत की सीमा में है और न अनागत की सीमा में वही वर्तमान कहलाता है। अतः जब सापेक्ष पद ही अस्वीकार कर दिये गये, तब सापेक्षी का अस्तित्व भी नहीं रह सकता। फलतः केवल "वर्तमान मात्र" की बात स्वयं में ही आत्मविरोधी सिद्ध होती है।

सिद्ध - तुम्हारा यह तर्क यथास्थान ग्राह्य नहीं; क्योंकि इसमें ईश्वरदृष्टि और जीवदृष्टि के भेद का अविवेक है। ईश्वर की सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि कोई भी वस्तु, कोई भी धर्म, कोई भी सम्बन्ध, कोई भी सम्भाव्य या व्यक्त सत्ता, ईश्वरज्ञान की विषयता से बहिर्गत नहीं है; न कि यह कि ईश्वर में प्रतिक्षण नवीन ज्ञान का उदय होता रहे। अतः यदि कल कोई उपकरण बने, तो उसका ज्ञान ईश्वर के लिए नूतन-प्रकारक नहीं कहा जाएगा, क्योंकि नूतनता का व्यवहार वहाँ होता है जहाँ पूर्व-अज्ञानावच्छिन्न ज्ञानाभाव के पश्चात् ज्ञानोत्पत्ति हो। ईश्वर में ऐसा पूर्व-अज्ञान कदापि नहीं, इसलिए वहाँ नूतनज्ञान-व्यवहार असंगत है।

पूर्व - तो आप यह बताइए कि घटादि-निर्माण का ज्ञान ईश्वर को होगा या नहीं?

सिद्धा - इस प्रश्न में भी सामान्य-विषयता और विशिष्ट-व्यापार-विषयता का भेद अवश्य विचारणीय है। ईश्वर को घटत्व का ज्ञान होगा, घट का ज्ञान होगा, घटादि-पदार्थों का ज्ञान होगा, कर्तृत्व-करणता-कार्यत्व-सम्बन्ध का ज्ञान होगा; किन्तु जो कर्म अभी व्यवहारसत्ता को प्राप्त नहीं हुआ, उसका तद्विशिष्ट क्रियमाणता-अवच्छिन्न ज्ञान उसी रूप में नहीं कहा जाएगा। कारण यह है कि कर्म का व्यवहाररूप प्रादुर्भाव हुए बिना उसका क्रियमाण-विशेषरूप विषयत्व सिद्ध नहीं होता। जो अभी अस्तित्व में ही नहीं है, उसका तद्रूप ज्ञान नहीं कहा जा सकता; हाँ, उसकी सम्भावना, उसकी जाति, उसका कारण-सम्बन्ध, उसकी उत्पाद्यता, उसका कार्यत्व, उसका ज्ञेयत्व—ये सब ईश्वर के ज्ञान में अवश्य हैं। अतः "कर्म का ज्ञान नहीं" का अभिप्राय सर्वथा ज्ञानाभाव नहीं, बल्कि व्यवहारविशिष्ट, वर्तमान-निष्पन्न, क्रियामाण-रूप ज्ञानाभाव है।

अब तुम्हारे दूसरे प्रश्न का समाधान यह है कि भूत, भविष्य और वर्तमान का विभाग जीवज्ञान-परिच्छेदापेक्ष है, ईश्वरज्ञानापेक्ष नहीं। भविष्य उस ज्ञानविषय को कहते हैं जो जीव के लिए अभी अनवभासित है; भूत उस ज्ञानविषय को कहते हैं जो जीव के अनुभवातीत होकर स्मृतिगोचर हुआ; वर्तमान उस ज्ञान-विषय को कहते हैं जो अभी साक्षादवभासमान है। परंतु ईश्वर न किसी वस्तु को भूलता है, न किसी वस्तु का ज्ञान उसके लिए अप्राप्त रहता है। अतः ईश्वर के लिए भूतत्व और भविष्यत्त्व, जीववत्

ज्ञानाभावपूर्वक या ज्ञाननाशोत्तर व्यवहाररूप नहीं हैं। इसीलिए यह कहा जाता है कि ईश्वर सर्वदा वर्तमान में है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भूत और भविष्य का सर्वथा अभाव है, बल्कि यह है कि ईश्वरज्ञान में भूतत्व-अवच्छेदक विस्मृतित्व और भविष्यत्त्वअवच्छेदक अप्राप्तत्व का अभाव है।

कर्मादि का ज्ञान भी उसी प्रकार समझना चाहिए। जब तक कोई कर्म व्यवहाररूप से निष्पन्न नहीं हुआ, तब तक उसका क्रियमाण-विशेषरूप ग्रहण नहीं; किन्तु उसके सम्भाव्यत्व, करणसम्बन्ध, कर्तृशक्ति, कार्योत्पादकता, जातिसम्बन्ध, तथा तदुपपादक तत्त्वों का ज्ञान ईश्वर में पूर्वसिद्ध है। अतः यहाँ ज्ञानाभाव नहीं, प्रत्युत तद्विशिष्टव्यवहाररूपविषयता का अभाव है।

और तुम्हारा तीसरा प्रश्न भी युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि यह चालमात्र है। वास्तव में वर्तमान की प्रसिद्धि से ही भूत और भविष्य का व्यवहार सिद्ध होता है, न कि भूत और भविष्य की अपेक्षा से वर्तमान की प्राथमिक सिद्धि। भूतत्व और भविष्यत्त्व, वर्तमान-सापेक्ष व्यवहारपद हैं। जो वर्तमान से अतीतावच्छिन्न है वह भूत कहलाता है, और जो वर्तमान से अनागतावच्छिन्न है वह भविष्य कहलाता है। अतः वर्तमान की सत्ता को भूत-भविष्य पर आश्रित कहना न्यायसंगत नहीं। बल्कि वर्तमान-सत्ता ही वह आश्रय है जिसके सापेक्ष भूतत्व और भविष्यत्त्व का व्यवहारोपपादन होता है। इसलिए तुम्हारा यह तर्क कि भूत और भविष्य के निषेध से वर्तमान भी असिद्ध हो जाएगा, नितान्त असंगत है; क्योंकि अस्मद्भिप्राय भूत-भविष्य का सर्वथा निषेध नहीं, बल्कि ईश्वरदृष्ट्या जीववत् तद्विभाग

का निषेध है। इस प्रकार पूर्वोक्त समस्त आपत्तियों का समाधान सिद्ध हो जाता है।

पूर्व--जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित है, पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है? (सत्या०प्र०समु--९)

पूर्वोक्त युक्तियों से यह भी खण्डित है। तथा ज्ञान से मुक्ति मानने वाले सांख्यादि के मत में यह युक्ति व्यर्थ है।

पूर्व पक्ष के द्वारा दिया गया उत्तर पक्ष -

ज्ञान भी तो बिना कर्म के सम्भव नहीं।

पूर्व का उत्तर -

यदि आपके कहने पर ज्ञान से ही उत्पत्ति मान लें, तब भी यह तर्कसंगत नहीं होगा। कारण यह कि ज्ञान में साक्षात किसी वस्तु को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं है। ज्ञान केवल निमित्तगत गुणों और भूतपूर्व कारणों के जाग्रत होने का प्रमाण है, न कि स्वतः किसी कार्य या फल को उत्पन्न करने की शक्ति।

यदि निमित्तगत गुण आदि कार्य में प्रवेश करते हैं, तब भी नित्य ईश्वर द्वारा रचित संसार स्वयं स्वतः नित्य हो जाएगा। अर्थात् ज्ञान या कर्म की उत्पत्ति मात्र से नित्यत्व नहीं सिद्ध होता, क्योंकि कार्य-कारण संबंध केवल नित्य कारणों और उपादान की स्वीकृति से ही निश्चित होता है।

अतः उपादान-कारण के विकल्प का खण्डन और भी आगे किया जाएगा। यह स्पष्ट है कि केवल कर्म, साधन, या ज्ञान की उत्पत्ति को आधार मानकर अनित्य या नित्य फल का निर्धारण करना युक्तिसंगत नहीं; नित्य फल हेतु आवश्यक है उपादान का निरन्तर और अचित्र्य अस्तित्व।

सिद्ध — पूर्व-महोदय, आपके द्वारा प्रस्तुत तर्क का खण्डन पूर्व में किया जा चुका है। अब आपके अनुसार जो उत्तरपक्ष प्रस्तुत किया गया है, वह भी आपकी अपनी प्रतिज्ञा-सिद्धि के अभाव से निरर्थक हो जाता है।

क्योंकि आपने यह नहीं सिद्ध किया कि परिमित कर्म अनन्त फल का जनक हो सकता है; आपने केवल इतना कहा कि ज्ञान भी कर्म के बिना नहीं होता।

परन्तु यह कथन मुख्य विवाद का समाधान नहीं करता।

स्वामी दयानन्द का जो हेतु है, वह तर्कसंगत है।

जैसे न्यायालय में प्रत्येक अपराध के लिए दण्ड परिमित होता है—चोरी आदि सीमित कर्म हैं, अतः उनका फल भी सीमित दण्ड के रूप में होता है; अनन्त दण्ड नहीं।

यह एक सामान्य व्याप्ति के रूप में स्वीकार्य है कि परिमित कर्म से परिमित फल ही उत्पन्न होता है।

अतः सीमित कर्म से अनन्त फल की कल्पना अनुपपन्न है।

और आपके उत्तरपक्ष में ज्ञान का जो हेतु दिया गया है, उससे स्वामी दयानन्द की मुख्य प्रतिज्ञा का खण्डन नहीं होता।

पूर्व - यह जो सत्यार्थ प्रकाशकार का कहना है कि

१) अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिये ठीक नहीं।

२) अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते। (समु--९)

यह ठीक नहीं क्योंकि जीव के अल्प शक्तिमत्व का ही निश्चय नहीं किया जा सकता। कारण कि 'जीवत्वाछिन्न जीवः न शक्तिमान्तवत्वाभावाधिकरणः चेतनत्वात् ईश्वरवत्" इस अनुमान से विरोध है। यदि कहो कि हेतु प्रत्यक्ष बाधित है तो ठीक नहीं कारण कि अतिप्रशक्ति है। आकाश में समवायसंबंधावछिन्न रूपत्वावछिन्नात्यताभावाधिकरणत्व सिद्ध करने वाले आनुमान भी खण्डित हो जाऐंगे। यदि कही यह प्रतीति सर्वलोकानुभव सिद्ध है तो ठीक नहीं। देहात्मवाद भी सर्वलोकानुभव सिद्ध है। यदि कहो वो परिक्षित नहीं तो यह भी परिक्षित नहीं। यदि कहो की उसमें अंतः कारणादि कारणत्व का विधान किया जा सकता है तो हम कहेगें कि यहाँ भी समान

विधान का अवकाश है। किसी भी प्रकार के सत्प्रतिपक्ष का प्रयोग से भी लाभ नहीं कारण कि उससे हम खाण्डनिक का तो कुछ नहीं जाने वाला किन्तु आपका पक्ष की असिद्धी अवश्य हो जाएगी। यदि कहो देहादि में दृष्टिगोचर होने से आत्मा में उसका सुनमान हो जाएगा, तब तो हम भी देह का अनित्यत्वादि धर्म भी आत्मा में सिद्ध कर दिखाऐंगे।

सिद्ध — आपका यह तर्क अत्यन्त हास्यास्पद एवं तर्कदोषगर्भित प्रतीत होता है—

जीवत्वावच्छिन्न जीवः न शक्तिमत्त्वाभावाधिकरणः चेतनत्वात् ईश्वरवत

यह अनुमान ही बालक-सदृश तर्क-प्रक्रिया के तुल्य प्रतीत होता है; क्योंकि इसका खण्डन इस प्रकार है

समुद्रगतजलनदीगतजलयोर्जलत्वावच्छिन्नैकजातिकत्वसत्त्वेऽपि न नदीगतजले लवणत्वसिद्धिः जलत्वस्य लवणत्वहेतुत्वाभावात्। एवं च ईश्वरजीवयोश्चैतन्यावच्छिन्नैकजातिकत्वसत्त्वेऽपि न जीवे सर्वशक्तिमत्त्वसिद्धिः, चैतन्यस्य सर्वशक्तिमत्त्वहेतुत्वाभावात्। इस अनुमान से आपके पक्ष का व्यभिचार, साध्य-वैकल्य तथा हेत्वसिद्धि-अभाव स्पष्टतया अवगमित होता है। जब मुख्य तर्क ही खण्डित, दोषाविष्ट तथा असिद्ध हो गया, तब अवशिष्ट हेतु स्वतः एव निष्प्रयोज्य, निष्प्रभ तथा खण्डित माने जाएंगे। अतः उनके पृथक्-पृथक् निराकरण, खण्डन अथवा दोष-प्रदर्शन की कोई विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

पूर्व - यह युक्ति भी कि-- जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें (सत्या०प्र०समु--९)

व्यर्थ ही है कारण कि संसार उच्छेद भय से यदि जीवों की अंतवान् संख्या का अनुमान लगाया जा सकता है तो उसी भय के आधार पर जीवों के अनंतता का भी अनुमान किया जा सकता है। द्वितीय बात यह भी है कि संसार उच्छेद का इतना भय क्यों है आपको? हो जाए संसार का संसार का उच्छेद। ईश्वर को क्यों व्यर्थ के इस कर्म फलादि प्रपंच में फसाना चाहते हो? कैसे आस्तिक हो भला?!

सिद्ध — आपकी प्रथम व्याप्ति तथा स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित व्याप्ति — उभयत्र सम्बन्ध का सम्यक् परामर्श नहीं है अतः पूर्व व्याप्ति-ग्रहण की रीति सीखनी चाहिए।

प्रथम, हमें संसार-उच्छेद का कोई भय नहीं है; क्योंकि तर्क, युक्ति, तथा प्रमाण-समन्वित विचार से संसार के अत्यन्तोच्छेद की सिद्धि सर्वथा असिद्ध है। इसी कारण हम उसी असिद्धत्व पर विशेष बल देते हैं।

द्वितीय, ईश्वर ने यह प्रपञ्च जीव-स्वभाव को आधार बनाकर तथा जीव-कल्याण-हेतु रचा है। अतः जीव के स्वाभाविक अल्पज्ञत्व को आश्रय बनाकर संसार के अत्यन्तोच्छेद की सिद्धि कदापि उपपन्न नहीं होती।

अन्यथा पक्ष में साध्य-सिद्धि के स्थान पर केवल कल्पना, व्याप्ति-दोष, तथा असंगत-सम्बन्ध की ही आपत्ति उपस्थित होगी।

पूर्व - गंगा प्रसाद जी का यह कहना कि--

न यह कहा जा सकता है कि अनन्त काल से अब तक किसी को मुक्ति नहीं मिली, यदि मुक्ति एक प्राप्य वस्तु है तो बहुतों को प्राप्त हुई होगी। (मोक्ष ०पुन०पृष्ठ ५०)

भी ठीक नहीं कारण कि अनंत आकाश में क्या सर्वत्र शब्द गुण किसी भी काल में व्याप्त हुआ है? अथवा नहीं? यदि व्याप्त है को आकाश की सीमा हो जाने से उसकी अनंतता भंग हो जाएगी और यदि नहीं हुआ तो आपका हेतु भंग हो गया

सिद्ध - इससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि यदि आकाश के शब्द-गुण को प्राप्ति-विषय भी मान लिया जाए तब भी काल-संबन्ध के द्वारा वह किसी न किसी अवस्था में शब्द-गुण को अवश्य प्राप्त करेगा। अतः इस प्रकार की कल्पना से आपके पक्ष की सिद्धि नहीं, प्रत्युत हमारे पक्ष की ही सिद्धि अधिक सुस्पष्ट होती है।

यतः यहाँ अभिप्रेत निषेध स्थिर नहीं रह पाता, और काल-सम्बन्ध-प्रयुक्त प्राप्ति की स्वीकृति होते ही आपका निष्कर्ष स्वयं शिथिल हो जाता है।

फलतः यह उदाहरण आपके अभिप्रेत साध्य का साधक न होकर, विपरीततः हमारे अभिमत की एव पुष्टि करता है।

पूर्व - यह विडम्बना भी है कि यदि तत्कालीन

कालिकसम्बन्धावच्छिन्न देवदत्त द्वारा घट निर्माण की क्रिया क्या पहले भी हो चुकी है या नहीं? यदि नहीं तो हेतु भंग हो गया यदि हाँ तो क्या प्रत्येक वस्तुगत विशिष्ट क्रिया हो चुकी है? या कि कुछ भेद है? यदि भेद है तो पुनः हेतु भंग हो गया यदि कहो कि भेद नहीं है तो स्वतंत्रता भंग हो जाएगी और नीयतीवाद मानने कि आपत्ति है। कारण यह है कि आज का वर्तमान वस्तुतः एक काल का भूत ही है।

इसी क्रम से वह भूत भी किसी का वर्तमान होगा और कर्म-फल व्यवस्था का ही उच्छेद हो जाएगा।

और भी कि यदि उपरोक्त चक्र मान लिया जाता है तो प्रागभाव की उत्पत्ति मानने की आपत्ति है। क्योंकि वर्तमान काल विशिष्ट घटगत प्रागभाव की स्थिति पूर्व में भंग हो चुकी है। और क्योंकि आप उसी पूर्व घट की उत्पत्ति पुनः मान रहें हैं तो उसी प्रागभाव से माननी होगी जिसके लिए आपको उसी प्रागभाव की उत्पत्ति स्वीकारनी होगी।

प्रलयादि में भी नियम का व्यभिचार किया जा सकता है क्योंकि जिस काल में जो प्रलयादि कार्य किया गया उसी काल में वह पुनः नहीं किया जा सकता है कारण कि वह काल समाप्त हो चुका है।

सिद्ध — प्रथम युक्ति की असिद्धि से समस्त युक्तियाँ स्वतः खण्डित हो जाती हैं। अतः प्रथम युक्ति का खण्डन यह है कि — कालिकसम्बन्धावच्छिन्न देवदत्तद्वारा घट-निर्माण अनन्त-काल-संबन्ध में कदाचित् न कदाचित् अवश्य ही घटित हुआ होगा। तथा उसके सदृश कर्म होने की विशिष्टता भी माननी पड़ेगी; अर्थात् उसका काल-परिमाण, तथा देवदत्त ने जो घट-निर्माण किया है, उसके तुल्य निर्माण पूर्वकाल में भी कर चुका होगा। इससे तो यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कर्म किसी न किसी काल में पूर्वकृत अवश्य होता है।

और इसी प्रकार, इस जन्म में भी हम पूर्वजन्मगत कुछ कर्मों के सदृश कर्म, जैसे श्वास-लेना आदि, करते ही हैं। तथापि इससे नियतिवाद सिद्ध नहीं होता; क्योंकि कर्म-करण की प्रेरणा केवल पूर्वजन्म से निष्पन्न नहीं मानी जा सकती, अपितु शरीरादि-उपाधियों से भी उसका उद्भव स्वीकार करना पड़ता है। अतः पूर्वकृत-सादृश्य से नियतत्व की सिद्धि करना व्याप्तिदोषग्रस्त है।

दूसरी बात यह है कि घट-निर्माण को मोक्ष के लिये उदाहरण बनाना ही युक्तिसंगत नहीं; क्योंकि घट-निर्माण नैमित्तिक है, किन्तु मोक्षापेक्षा प्रत्येक मनुष्य में समानरूपेण विद्यमान मानी जाती है। अतः घट-निर्माण

और मोक्ष के मध्य जो व्याप्ति स्थापित की जा रही है, वह न सम्यगुपपन्न है, न अव्यभिचारिणी। इसलिये यहाँ दृष्टान्त-दृष्टान्तिक-भाव भी सम्यक् नहीं बैठता, और न ही साध्य-साधन-सम्बन्ध का अपेक्षित निश्चय हो पाता है।

पूर्व - यह जो तर्क है कि-- "दुःख के अनुभव के बिना सुख कुछ भी नहीं हो सकता। (सत्या०प्र०समु--९) इससे तो आपका ईश्वर भी दुखाधिकरण हो जाएगा क। यदि कहो कि सुख तथा आनन्द में भैद है तो प्रथम भेद प्रतिपादित कीजिए द्वितीय आप तो मोक्ष में ईश्वर सानिध्य से आनन्द ही मानते हैं। मोक्ष में विषयाभाव होने से तत् जनित सुखाभाव भी है ही।

सिद्ध - सुख और आनन्द में भेद है। जिस अवस्था-विशेष में किसी वस्तु, क्रिया, अथवा अन्य किसी विषय की इच्छा-अवच्छिन्न प्रवृत्ति न रहे, और विषय-अपेक्षा का अभाव हो, उस अनुभव-विशेष को आनन्द कहा जाता है। तथा जिस अवस्था में किसी इच्छित वस्तु, इच्छित क्रिया, अथवा अभीष्ट फल की सम्पूर्ति-जन्य मनोनुकूलता उत्पन्न हो, उस अनुभव-विशेष का नाम सुख है।

दूसरी बात यह है कि व्यवहार-दशा में सुख को ही आनन्द कह दिया जाता है, और आनन्द को ही सुख कहने का भी व्यवहार होता है। अतः लोक-व्यवहार-अवच्छेदेन दोनों में अभेद-व्यवहार दृष्ट होता है। किन्तु सिद्धान्त-दशा में यह अभेद मान्य नहीं है। वहाँ जीव की मोक्षावस्था-

अवच्छिन्न स्थिति के विषय में यह कहा जाता है कि जीव मोक्ष में सुख प्राप्त करता है।

इसी कारण, व्यवहार और सिद्धान्त—इन दोनों दशाओं का विभाग करना आवश्यक है। व्यवहारतः सुख–आनन्दयोः परस्पर-अभेद-व्यवहार स्वीकार्य है; किन्तु सिद्धान्ततः इच्छित-विषय-सम्पूर्ति-जन्य अनुभूति सुख है, और विषय-अनपेक्ष, निरपेक्ष, स्वावस्थित अनुभव आनन्द है। तथापि मोक्षावच्छिन्न जीवधर्म के निरूपण में सुख-शब्द-प्रयोग एव ग्राह्य माना जाता है।

पूर्व — सत्यार्थप्रकाशकार ने यह जो दो बातें कही हैं कि—

१) "पवित्र कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति होती है।"

२) "जो ईश्वर अनन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए।"

तथा आर्य मुनि का यह कथन कि—

"कर्म और ज्ञान, ये दोनों मिलकर मुक्ति के साधन हैं।" (सांख्य ०८०९८१)

यह सब अयुक्त है; कारण कि— यहाँ पूछा जाए कि क्या सर्व-उच्छिष्ट कर्माभाव-निरूपित सद्कर्मातिशय से मुक्ति होगी?

या यत्किञ्चित् उच्छिष्ट कर्माभाव-निरूपित सद्कर्मातिशय से मुक्ति होगी?

प्रथम में तो पुनरावृत्ति संभव नहीं; कारण कि शेष सत्कर्मों का भी सुख-प्राप्ति हो जाने से जीव कर्मशून्य हो जाएगा। अतः पुनर्जन्म सम्भव नहीं।

द्वितीय पक्ष में भी, प्रथमतः मोक्ष में भी उच्छिष्ट कर्मजनित दुःख को मानने की आपत्ति है; द्वितीय, सत्कर्मजनित सुख के भोग के पश्चात् निकृष्ट कर्मजनित दुःख मात्र तथा सुखात्यन्ताभाव की नवीन जन्म में मानने की आपत्ति है।

सिद्ध — पूर्वपक्ष ने जो द्वितीये पक्ष ठीक है लिकिन पूर्ण तरीके से नहीं क्यु कि हम मोक्ष में समांतर कर्मों को स्वीकार करने है एवं सत्कर्मों को केवल मोक्ष के साधन रूप से मानते है मुख्य बात ये है कि उच्छिष्ट कर्मों से मोक्ष की सीमा निर्धारित होती है और उसके बाद पिछले जन्मों के कर्मों के हिसाब से जन्म मिलता है अतः आपका तर्क खंडित हुआ।

पूर्व - और भी, सत्यार्थप्रकाशकार का यह कथन कि-

"बन्ध और मोक्ष स्वभावतः नहीं, अपितु निमित्ततः होते हैं; क्योंकि जो स्वभावतः होता है उसकी निवृत्ति असम्भव है"।

तथा गङ्गाप्रसाद उपाध्याय द्वारा यह प्रतिपादन कि-

"जीव न स्वभावतः बद्ध है, न स्वभावतः मुक्त है"

इन दोनों वचनों द्वारा बन्धत्व और मुक्तत्व का स्वभावतः निषेध किया गया है।

परन्तु यह निषेध स्वयं तर्कदोषग्रस्त प्रतीत होता है।

इनसे प्रथमं यह प्रशन अनिवार्यतया किया जा सकता है कि क्या आप बन्धत्व और मुक्तत्व के मध्य परस्पर विरोध स्वीकारते हैं अथवा नहीं? यदि विरोध स्वीकार नहीं करते, तो बन्धाभावोत्तरं मुक्तत्व की अनिवार्यता आप नहीं सिद्ध कर सकते; क्योंकि जहाँ विरोधाभाव है, वहाँ एक के अभाव से दूसरे का अनिवार्य प्रादुर्भाव न्यायसिद्ध नहीं होता। और यदि आप विरोध स्वीकारते हैं, तो पुनः यह मानना अपरिहार्य हो जाता है कि उनमें से किसी एक का स्वभावतः अस्तित्व हो; क्योंकि परस्परविरोध केवल वहीं सम्भव है जहाँ दोनों में नियतस्वरूपनिष्ठता हो।। अतः दोनों का स्वभावतः निषेध करने पर विरोधस्वीकार स्वयं विरुद्ध हो जाता है। प्रस्तरादि का दृष्टांत उभयाभाव कि लिए वैशष्यम् होने से नहीं दिया जा सकता अन्यथा अतिप्रशक्ति होगी

सिद्ध - मोक्ष और बंध के परस्पर-विरोधी होने तथा उनके नियतस्वरूपनिष्ठ माने जाने पर बंध और मोक्ष में कौन-सा दोष आता है, यह बात पूर्वपक्ष ने ठीक तरह से स्पष्ट नहीं की है। पूर्वपक्षी ने आखिर किस आधार पर यह सिद्धांत माना कि बंध और मोक्ष की

नियतस्वरूपनिष्ठता मानने से कोई दोष उत्पन्न होता है? हमारी मान्यता तो यह है कि आत्मा न तो स्वभाव से बद्ध है और न ही स्वभाव से मुक्त।

पूर्व - मोक्ष को प्रागभाव निरुपित कार्य मानने वालों से यह भी पूछा जाए कि किस सम्बन्ध से मोक्ष की उत्पत्ति आत्मा में होती है? समवाय नहीं कह सकते कारण कि मोक्ष गुणादि समवाय के समवायी में उपस्थित नहीं तथा समवाय के नित्य होने से मोक्ष के भी नित्य होने का प्रसंग उपस्थित होगा। संयोग भी नहीं कह सकते कारण कि फिर आपको द्वितीय संयोगी का कथन करना होगा जोकि दुष्वार है तथा संयोग सदैव सावयव घटित होने से भी विकल्प से बाहर है। तादात्म्यादि संबंध तो सिद्धांत हानी होने से बनेगा नहीं।

सिद्ध - अरे भाई, पहले यह बताइए कि आपको और आपके आचार्य को सिद्धांत-पक्ष वास्तव में ज्ञात भी है, या आप केवल खंडन करने के लिए ही आ गए हैं? मात्र नव्य-न्याय की भाषा का प्रयोग कर लेने से न तो तर्क सही हो जाता है और न सिद्धांत सिद्ध हो जाता है।

यहाँ आपने जो कहा कि आत्मा में मोक्ष उत्पन्न हो रहा है उसे मान ही कौन रहा है? हम ऐसा नहीं मानते। मोक्ष और आत्मा का संबंध भोग्य-भोगता-भाव के रूप में है। मोक्ष आत्मा में उत्पन्न होने वाली कोई वस्तु नहीं है बल्कि वह आत्मा द्वारा कर्मक्षयजन्य भोग की अवस्था है।

पूर्व - और भी आप सत्कार्यवादियों के मत में कार्य की स्थिति कारण में होती है। अर्थात मोक्ष रूपी कार्य आत्मा रूपी कारण में विद्यमान होना चाहिए। अब प्रश्न यह है कि उस कार्य कि अभिव्यक्ति कैसे होगी? क्या दूध से दही बनने के सामन परिणाम होकर ? या परमाणु से द्विगुणकादि के समान संयोग होकर? या कि रज्जु सर्प के समान विवर्त होकर ? तृतीय पक्ष तो अपसिद्धांत होने से बनेगा नहीं। द्वितीय भी आत्मा निरवयव तथा द्वितीय संयोगी के अभाव होने से नहीं बनेगा तथा संयोग मानने पर भी सत्कार्यवादानुसार कार्य उत्पत्ति सम्भव नहीं जिसका विस्तार से निरूपण ईश्वर-सृष्टि खण्डन प्रकरण में किया जाएगा।

सिद्ध - क्या सिद्धांत को गलत ढंग से प्रस्तुत करने में आपको आनन्द आता है, या यह आपकी स्वाभाविक कुबुद्धि का ही परिणाम है? अरे भाई सत्कार्यवाद का प्रयोग केवल उपादान-कारण के प्रसंग में किया जाता है। आत्मा मोक्ष का उपादान-कारण है ही नहीं तब आप यहाँ सत्कार्यवाद का आरोप कैसे कर रहे हैं?

पूर्व — सत्यार्थप्रकाशकार ने यह जो दो बातें कही हैं कि—

१) "पवित्र कर्म, पवित्र उपासना और पवित्र ज्ञान ही से मुक्ति होती है।"

२) “जो ईश्वर अनन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे, तो उसका न्याय नष्ट हो जाए।”

तथा आर्य मुनि का यह कथन कि—

“कर्म और ज्ञान, ये दोनों मिलकर मुक्ति के साधन हैं।” (सांख्य ०८०९८१)

यह सब अयुक्त है; कारण कि—

यहाँ पूछा जाए कि क्या सर्व-उच्छिष्ट कर्माभाव-निरूपित सद्कर्मातिशय से मुक्ति होगी?

या यत्किञ्चित् उच्छिष्ट कर्माभाव-निरूपित सद्कर्मातिशय से मुक्ति होगी?

प्रथम में तो पुनरावृत्ति संभव नहीं; कारण कि शेष सत्कर्मों का भी सुख-प्राप्ति हो जाने से जीव कर्मशून्य हो जाएगा। अतः पुनर्जन्म सम्भव नहीं।

द्वितीय पक्ष में भी, प्रथमतः मोक्ष में भी उच्छिष्ट कर्मजनित दुःख को मानने की आपत्ति है; द्वितीय, सत्कर्मजनित सुख के भोग के पश्चात् निकृष्ट कर्मजनित दुःख मात्र तथा सुखात्यन्ताभाव की नवीन जन्म में मानने की आपत्ति है।

सिद्ध — पूर्वपक्ष ने जो द्वितीये पक्ष ठीक है लिकिन पूर्ण तरीके से नहीं क्यु कि हम मोक्ष में समांतर कर्मों को स्वीकार करने है एवं सत्कर्मों को केवल मोक्ष के साधन रूप से मानते है मुख्य बात ये है कि उच्छिष्ट कर्मों

से मोक्ष की सीमा निर्धारित होती है और उसके बाद पिछले जन्मों के कर्मों के हिसाब से जन्म मिलता है अतः आपका तर्क खंडित हुआ।

पूर्व - "उपादान कर्म है यथा इस जन्म के उपादान पिछले जन्म के कर्म है।"

ऐसा नहीं क्योंकि यदि माने तो प्रथम तो कर्म में परिवर्तन आता है किन्तु शरीरादि में परिवर्तन नहीं आता। और भी, कर्म परिमाणु निर्मित नहीं किन्तु उपादेयरूप शरीरादि में तो परमाणु के देखे जाने से यह सिद्धांत ठीक नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि सादित्व धर्म को निवर्त्यता का प्रयोजक (व्याप्य) नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ध्वंस में सादित्व के रहने पर भी उसमें निवर्त्यत्व नहीं माना जाता है। इसी प्रकार अनादित्व धर्म को अनिवर्त्यता का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रागभाव में अनादित्व के रहने पर भी उसमें अनिवर्त्यत्व नहीं माना जाता है। यदि कहा जाय कि भावत्व से विशेषित जो सादित्व और अनादित्व है, उनको निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का प्रयोजक क्रम से मानेंगे। अर्थात् "यत्र यत्र भावत्वे सति सादित्वं तत्र तत्र निवर्त्यत्वम्।" "यत्र यत्र भावत्वे सति अनादित्वं तत्र तत्र अनिवर्त्यत्वम् ।" ऐसी व्याप्ति मानेंगे। तब तो अभाव में भावत्व के न रहने से भावगत निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व के प्रयोजक भावत्वविशेषित सादित्व अनादित्वरूप धर्मों की अपेक्षा से अभावगत निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व के प्रयोजक धर्मों को भिन्न मानना पड़ेगा। अर्थात् भावस्थल

पर निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का जो प्रयोजक माना जायेगा। उस प्रयोजन से भिन्न प्रयोजक अभावस्थल पर निवर्त्यत्व और अनिवर्त्यत्व का माना जायेगा। ऐसा होने पर गौरव दोष होगा।

इससे अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का प्रथम तर्क युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उसमें शरीर कर्म आदि सिद्धान्तों के यथार्थ तत्त्वज्ञान का अभाव है। अतः सिद्धान्तपक्ष का यथावत् निरूपण उसके द्वारा सम्पन्न नहीं हुआ।

द्वितीय पक्ष में निर्मिता व्याप्ति भी ग्राह्य नहीं है क्योंकि वह स्वसिद्ध है। अर्थात् जो साध्य था उसी को पूर्वमेव अभ्युपगम्य व्याप्ति की रचना की गई है। अतः ऐसी व्याप्ति प्रमाणसिद्ध न होकर स्वसिद्धत्वदोषदुष्टा है।

पूर्व - "प्रागभावकत्वात्, कार्यत्वात्, उत्पत्तिधर्मात्वात् आदि हेतुओं से अनुमान के बल पर पुनरावृत्ति सिद्ध की जा सकती है।"

सार यह कि आप मोक्ष की एक कार्य मानते हैं किन्तु विपक्ष-बाधक तर्क के होते यह सभी हेतु साध्य सिद्धी में निष्फल हैं। मोक्ष को कार्य मानने वालों के पूछा जाए कि उसका उपादान किसको कहोगे? कार्य? या ज्ञान? अथवा आत्मा? प्रथम में तो "कार्य द्रव्ये समानजातीय गुणान्तरमारभन्ते" इस नियमानुसार कार्य का अनित्यत्व उससे जनित सुखादि में आ जाएगा आर्थात क्षण-क्षण में सुख का नाश होता रहेगा।

द्वितीय बात यह भी है कि कार्य स्वतः में सुख रूप नहीं तो उससे जनित मोक्ष में सुख कैसे आएगा? द्वितीय यदि ज्ञान को भी उपादान सम्भव नहीं कारण कि ज्ञान आपके मत में गुण है और गुण किसी का उपादान बनता नहीं। तृतीय यदि आत्मा को माने तो आत्मा में अनित्यत्व प्रसंग आएगा कारण कि उपादान कारण में बिना विकार आए कार्य उत्पत्ति देखी नहीं जाती अन्यथा

कार्य उत्पत्ति ही सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि कार्य का नाश उपादान के नाश होने से ही देखा जाता है घटादिवत् तो यदि मोक्ष रूप कार्य का विनाश मानोगे तो उसके उपादान कारण आत्मा का भी नाश मानना होग।

सिद्ध - एक तो समझ में नहीं आता कि ये सामाजी निरास लिख रहे हैं या फिर टुक्का निरास। जब पूर्वपक्ष का यथार्थ बोध ही नहीं है तब पुस्तक लिखने का उपक्रम करना सर्वथा अयुक्त है। पूर्वपक्ष के अविज्ञाते सति सिद्धान्तखण्डन का उद्योग केवल शब्दप्रपञ्च मात्र रह जाता है।

मोक्ष कार्य नहीं है अपितु अवस्था है। और वह अवस्था अनन्त है। उसमें आदिधर्मत्व तथा अन्तधर्मत्व दोनों का अत्यन्ताभाव है। जीव के कर्मानुसार उसकी सीमा का निर्धारण होता है। यह बात पूर्वमेव सम्यक् प्रकार से समझाई जा चुकी है। अतः पुनः तदेव विषयम् अज्ञानवशात् विकृतरूपेण प्रस्तुत करना न युक्तिसंगत है न सिद्धान्तानुकूल।

पूर्व - मोक्ष का भोग जिस शरीर विशिष्ट से होगा वह क्या त्रिगुण का कार्य होगा या नहीं? यदि नहीं तो सत्वाभाव होने से सुख प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि त्रिगुण का कार्य मानते होतो रजोगुण तथा तमोगुण जनित दुखादि भी मानने की आपत्ति है।

सिद्ध - मोक्ष में जो प्राप्त होता है वह शारीरिक ही नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा शारीरिकदृष्ट्या ही सम्पूर्ण विषय का ग्रहण करना सिद्धान्तपक्ष-अज्ञान का द्योतक है। स्पष्ट है कि उसे पूर्वमेव सिद्धान्तपक्ष का सम्यक् अध्ययन अपेक्षित है।

पूर्व - "सत्वाभाव हो। हमतो ईश्वर संबंध से सुख मानते हैं।"

यह ठीक नहीं कारण कि कौन सा संबंध जीव-ईश्वर में बनेगा? संयोग तो सावयव द्रव्यों में की सम्भव है। समवाय तो नित्य सम्बन्ध होने से मोक्ष से पुनरावृत्ति में बाधक है। यदि इनसे इतर तादात्म्यादि संबंध की कल्पना करना चाहो तो सिद्धांत हानी स्पष्ट है।

सिद्ध - आत्मा और ईश्वर में स्वामिभृत्यभावसम्बन्ध स्वीकार्य है। जिस प्रकार राजा अपनी प्रजा को उनके कर्मानुसार वेतन प्रदान करता है और उस वेतनप्रदानव्यापार में प्रजाजन के लिए वेतनदाता तथा आश्रयरूप बनता है उसी प्रकार ईश्वर भी जीवात्माओं के कर्मानुसार फलप्रदाता होने

से उनके प्रति स्वामिरूपेण व्यवस्थित है। अतः जीव का भृत्यत्व और ईश्वर का स्वामित्व यह सम्बन्ध युक्तिसंगत रूप से सिद्ध होता है।

पूर्व - यह भी कहा जा सकता है कि मोक्षावस्था में रजादि गुणों का अभाव होने से क्रिया व यत्किन्चित भी विकार सम्भव नहीं। फल स्वरूप संकल्पादि भी मनो-विकार होने से रजसाभाव के चलते अस्तित्व में नहीं आ सकते। संकल्पाभाव से विशिष्ट सुखाभाव स्पष्ट है अतः मोक्ष में संकल्प सम्भव नहीं।

और भी कि त्रिगुण निरपेक्ष जीव की किसी भी प्रकार की गतिविधि सम्भव नहीं। पूर्व--यथा सुषुप्ति में किसी भी प्रकार की गुणों की स्थिति नहीं होती। तथा ही मोक्ष में होगा

सिद्ध - ऐसा नहीं है जिस प्रकार अहंकार महत्त्व के अन्नतर दूसरा कार्य होने पर

भी शरीर में उसका आधार आत्मा ही है अर्थात इसप्रकार स्थूलदेहः । में जो अहंबुद्धि है, उसका कारण प्रथम आत्मा में अहं होना है । वस्तुतः 'अहं' का | क्षेत्र आत्मा है, पर आत्मा अपने भोग के साधन और आधारभूत देह में अहं भावना कर - बैठता है । इस को पुष्ट करने के लिये दृष्टान्त उपस्थित किये गये हैं -यदि आत्मा के विना स्वतन्त्र देह में अहं भावना हो सकती हो, तो मृत देह में भी होनी चाहिये, पर वहां नहीं होती अतः

भावना का आश्रय आत्मा है, तो जिस प्रकार अहंकार महतत्व का कारण होते हुवे भी उसका आधार आत्मा है

॥ अत्र मोक्षविषयकं मण्डनं समाप्तम् ॥

॥ ईश्वरनिरासभङ्गः ॥

अब यहाँ से पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित ईश्वरनिरासविषय का क्रमशः खण्डन आरम्भ होता है।

पूर्व - आर्य-समाजीयों के ईश्वर का भी निर्वाचन न हो सकने के कारण उनका ईश्वर अनिर्वचनीय है। यदि पूछो कैसे? तो देखो गुणी की सिद्धी गुण की सिद्धी पर निर्भर होती है। ईश्वर के गुणों की सिद्धी नहीं हो सकती क्योंकि देखो--

यह जो सत्यार्थ प्रकाशकार ने सर्वशक्तिमान् का लक्षण किया कि--

सर्वशक्तिमान् शब्द का यही अर्थ है कि ईश्वर अपने काम अर्थात् उत्पत्ति, पालन, प्रलय आदि और सब जीवों के पुण्य पाप की यथायोग्य व्यवस्था करने में किञ्चित् भी किसी की सहायता नहीं लेता अर्थात् अपने अनन्त सामर्थ्य से ही सब अपना काम पूर्ण कर लेता है। (सप्तमसमुल्लासः)

यहाँ पूछा जा सकता है कि सहायता न लेने का अर्थ क्या है?

(१) क्या स्व-भिन्न चेतन का उपयोग न लेना?

(२) या जड़ वस्तु का उपयोग न करना?

(३) या उपलब्ध वस्तु का ही प्रयोग करना?

(४) या उत्पत्ति-स्थिती-लय के हित किसी चेतन का उपयोग न करना?

(५) या उत्पत्ति-स्थिती-लय के हित किसी जड़ वस्तु का प्रयोग न करना ?

(६) अथवा अन्य कुछ?

सिद्ध - पूर्वपक्षप्रदत्त हेतुओं को तो पृथक् ही रखिए बल्कि उनके द्वारा प्रस्तुत विकल्प भी सम्यक् नहीं हैं क्योंकि सत्यार्थप्रकाश में स्वामीजी जहाँ सहायता विषय का निरूपण कर रहे हैं वहाँ सहायता पद से उपयोग अथवा प्रयोग अर्थ का ग्रहण करना न प्रसंगसंगत है न युक्तिसंगत। अतः यह अर्थकल्पना असंगत है। फलतः पूर्वपक्षीय विकल्पों के मिथ्या होने पर तदाधारित खण्डन स्वतः असिद्ध सिद्ध होता है।

अत एव अत्र एक मुख्य व्याप्ति भी अवधेया है कि सहायता केवल चेतन ही कर सकता है जड़ वस्तु नहीं। कारण यह है कि सहाय्यसाधनभाव में प्रयोजनबोध अनुग्रहबुद्धि तथा क्रियानुयोगिता का आश्रय चेतनत्व ही होता है। जड़ पदार्थ में ऐसे सामर्थ्य का अभाव होने से उसका सहायकत्व अनुपपन्न है।

इसी प्रकार ईश्वर का किसी अन्य चेतन की सहायता ग्रहण करना भी न केवल अस्मन्मते अस्वीकार्य है अपितु तर्कतः भी असंगत है। क्योंकि जो ईश्वर सर्वसमर्थ सर्वाधार तथा स्वतन्त्र है उसमें परापेक्षिता की कल्पना ही स्वरूपविरोधिनी है। अतः अन्यचेतनसहायता का स्वीकार न प्रमाणसिद्ध है न युक्तिसिद्ध और न ही अस्मत्पक्ष में मान्य है।

पूर्व - यह जो सर्वशक्तिमान् सिद्धी के लिए अनुमान बनाया गया कि --

(1) प्रतिज्ञा-ईश्वर सर्वशक्तिमान् है।

(2) हेतु सृष्टि-रचना आदि अपने कार्यों में अन्य किसी की सहायता न लेने से।

[व्याप्ति (वैधर्म्य से) जो-जो अपने कार्यों को करने में अन्यों की सहायता लेता है, वह वह सर्वशक्तिमान् नहीं होता ।]

(3) उदाहरण - जैसे जीव (मनुष्य) आदि।

(4) निगमन इसलिये सृष्टि-रचना आदि अपने कार्यों में अन्यों की सहायता न लेने से, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। (तत्व०पृ०२९)

ठीक नहीं। इसके हेतु के घटकीभूत "सहायता" पद पर भी उक्त रीति से विकल्प कर खण्डन कर लेना चाहिए। हेतु से असिद्ध हो जाने से अनुमान साध्य सिद्धी में सामर्थ्य नहीं।

सिद्ध - इस हेतु का खण्डन उक्त रीति से ही कर लेना चाहिए क्योंकि पूर्वपक्ष में सामान्यबुद्ध्यभाव होने से सहायता तथा उपयोग आदि में शब्दभेद और भावभेद का यथार्थ ज्ञान विद्यमान नहीं है। अतः जहाँ भिन्नार्थता अवधेया थी वहाँ अभेदकल्पना कर ली गई और जहाँ प्रसंगभेद से अर्थभेद सिद्ध था वहाँ एकार्थग्रहण कर लिया गया। इसी कारण उनका विकल्पनिरूपण आरम्भ से ही असंगत तथा अविवेचित सिद्ध होता

पूर्व - यहाँ से विवेकानंद परिव्राजक द्वारा रचित "तत्वज्ञान" पुस्तक का खण्डन प्रारम्भहोता है। पुस्तक में बनाए गए अनुमानों के साथ-साथ उसमें कहे हुए सिद्धांतों का भी यथासंभव खण्डन कर दिया जाएगा।

यह जो कहा कि आकार वाले सूक्ष्म कारण पदार्थ (प्रकृति) से, आकार वाले ही कार्य पदार्थ वायु, आकाश आदि बन सकते हैं। इसलिये प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों में भी सूक्ष्म आकार गुण है। प्रकृति जड़ है, इस कारण से वह साकार है। परन्तु ईश्वर तो चेतन पदार्थ है। इसलिये ईश्वर में आकार बिल्कुल भी नहीं है और वह सर्वथा निराकार है।" (पृ०२२)

यह पक्ष ठीक नहीं कारण कि है। यदि यह व्याप्ति स्वीकारी जाए कि "उत्पन्नत्व, रूपवत्त्व का व्याप्य है", अर्थात् जो उत्पन्न है वह रूपवान् है, और साथ ही यह भी स्वीकार किया जाए कि रूप स्वयं ईश्वर द्वारा उत्पन्न है, तो रूप में भी रूपवत्त्व की अपेक्षा उत्पन्न हो जाती है। अब उस द्वितीय रूप को भी उत्पन्न मानना पड़ेगा, और उत्पन्नत्व-व्याप्ति के कारण उसमें भी पुनः रूप की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार यहाँ उत्पन्नत्वव्याप्यरूपवत्त्वस्वीकार के कारणरूप में रूपान्तर कल्पना का प्रसङ्ग आता है और यह अनावस्था तक जाता है। यदि कहो कि हम प्रकृति को परमाणु रूप मानेंगे तो ठीक नहीं क्योंकि समान नियम से रूप में रूप मानने कि आपत्ति है और क्योंकि रूप बिना द्रव्य से नहीं रह सकता तो उसके लिए आपको रूप के भीतर परमाणु मानना पड़ेगा। जोकि असंगत है।

सिद्ध - प्रथमतो पूर्वपक्षी द्वारा खण्डनहेतु के रूप में स्वीकृत पक्ष ही अपूर्ण है। कारण यह है कि स्वामी विवेकानन्द परिव्राजक जी ने सिद्धान्तपक्ष में स्पष्टतया यह प्रतिपादित किया था कि प्रकृति आदि से निर्मित जो भी कार्य होगा वह साकार ही होगा। तत्र प्रदत्त हेतु इस प्रकार है—

"क्योंकि जिन मूल तत्त्वों (सत्त्व, रजस्, तमस्-प्रकृति) से पृथ्वी, जल, अग्नि आदि रूपवाले पदार्थ बने हैं, उन्हीं मूल तत्त्वों (सत्त्वादि) से मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, वायु और आकाशादि पदार्थ भी बने हैं। यहाँ कार्य द्रव्य (पृथ्वी,

जलादि) में रूप है, तो कारण द्रव्य (प्रकृति) में भी रूप निश्चित रूप से है ही। इसका कारण-भौतिक विज्ञान का नियम है, कि 'जैसे गुण कारण द्रव्य में होते हैं, वैसे ही गुण कार्य द्रव्य में देखे जाते हैं।" ~ (पृ०१९)

अस्य समर्थनार्थ वैशेषिकप्रमाणमपि निर्दिष्टम्—

"अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।' ये दोनों बातें महर्षि कणादजीने इन दो सूत्रों में कही है-

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः *// वैशेषिकदर्शन २/१/२८*

कारणाभावात् कार्याभावः *// वैशेषिकदर्शन १/२/१*

अतः आकार वाले सूक्ष्म कारण पदार्थ (प्रकृति) से, आकार वाले ही कार्य पदार्थ वायु, आकाश आदि बन सकते हैं। इसलिये प्रकृति आदि सूक्ष्म पदार्थों में भी सूक्ष्म आकार गुण है। प्रकृति जड़ है, इस कारण से वह साकार है। परन्तु ईश्वर तो चेतन पदार्थ है। इसलिये ईश्वर में आकार बिल्कुल भी नहीं है, और वह सर्वथा निराकार है ।"

अतः अत्रैव पूर्वपक्ष का स्वतोव्याघात प्रकट हो जाता है। यतः बुद्धिसिद्ध यह है कि प्रकृति अणुरूप होने से साकार है तथा अणुत्वधर्मावच्छिन्नत्वेन तस्य साकारत्वं सिद्ध है। अतः रूपसिद्धि प्रकृतिगत कारणपक्ष में एव उपपन्न है। ऐसी स्थिति में ईश्वरकृतत्वेन रूपसिद्धि का पक्ष स्थापित करना न केवल असंगत है अपितु मूढतामूलक ही प्रतीत होता है। यतः जहाँ सिद्धान्तपक्ष ने साकारत्व का आश्रय जड़प्रकृति में स्थापित कर दिया वहाँ तद्विरुद्धरूपेण ईश्वर में आकारकल्पना आरोपित करना निरवकाश है। अतः पूर्वपक्ष का उक्त निरूपण न सिद्धान्तानुगत है न युक्तिसंगत अपितु स्ववचनविरोधदूषित ही है।

पूर्व -यह अनुमान भी पूर्वपक्ष के मतानुसार ही सोपाधिक है। चेतनत्व उपाधि है। निराकात्वावछिन्नसाध्य के समानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वाश्रय बना चेतनत्व जीव में। तथा रूपाभावत्वावछिन्न साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं का आश्रय बने प्ररस्तरादि अतः चेतनत्व में उपाधी की सिद्धी हो गई। यदि कहो कि हम साध्य-साधन को अभाव घटित कर देगें को उसमें भी जड़त्वाभाव को उपाधी बना लेना चाहिए।

ईश्वर के अजन्मत्व या कहें कि शारीर धारण के सामर्थ्य के अभाव को सिद्ध करने ले लिए जो अनुमान बनाया गया है कि--

1) प्रतिज्ञा ईश्वर अजन्मा है। (शरीर धारण नहीं करता)

(2) हेतु बिना प्राकृति साधनों के अपने कार्य करने में समर्थ होने से।

[व्याप्ति - (वैधर्म्य से) जो-जो बिना प्राकृतिक साधनों के अपने कार्य करने में समर्थ नहीं होता, वह वह जन्म लेता है- (शरीर धारण करता है।)]

(3) उदाहरण जैसे- मनुष्यादि प्राणी।

(4) उपनय-जैसे मनुष्यादि प्राणी बिना प्राकृतिक साधनों के अपने कार्य नहीं कर सकता, वैसा ईश्वर नहीं है।

(5) निगमन इसलिये बिना प्राकृतिक साधनों के अपने कार्य करने में समर्थ होने से, ईश्वर अजन्मा है।

उक्त अनुमान की व्याप्ति असिद्ध होने के कारण कि कर्म फलादि व्यवस्था का संचालनादि ईश्वर कार्यांतर्गत ही माने जाते हैं। कर्म फलादि व्यवस्था प्राकृतिक वस्तुओं की सहायता से ही संचालित होती है। उदाहरण के लिए

देवदत्त को कुकर्म स्वरूप उदर-पीड़ा देने का साधन ईश्वर द्वारा ही अवस्थ-भोजन को बनाया गया। अतः व्याप्ति पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्धी है।

सिद्ध - प्रथमतः पूर्वपक्षी से यह जिज्ञासा अवश्य की जाएगी कि उसके द्वारा उपन्यस्त पंचावयव का प्रामाणिक उपादान क्या है वह किस प्रमाणजन्य है तथा उक्त व्याप्ति का ग्रहण किस आधार पर किया गया है। एतावता यदि विवादार्थ उस व्याप्ति को किंचित् स्वीकृत भी कर लिया जाए तथापि उससे हमारे सिद्धान्तपक्ष का किञ्चिदपि खण्डन सिद्ध नहीं होता। अपितु यथार्थतः पूर्वपक्षकृत खण्डन स्वयं असंगत अविचारित तथा तर्कविकल्पदूषित है।

अत्र तात्पर्य यह है कि ईश्वर कर्मादिफलव्यवस्था का विधाता अवश्य है किन्तु वह फलप्रदान फलस्वरूप प्रकृतिविन्यास के माध्यम से करता है जैसे योनिविशेषादि की उपलब्धि। परंतु उस फलप्रदानक्रिया की सिद्धि के लिए ईश्वर में शरीरादि साधनसापेक्षता मानना सर्वथा अयुक्त है क्योंकि ईश्वराश्रित शरीरादि का अत्यन्ताभाव सिद्ध है अतः वह सहायतानपेक्ष ही सिद्ध होता है। यहाँ प्रकृत्यादि को साधनकोटि में स्थापित करना ही पूर्वपक्ष की मूल भ्रान्ति है क्योंकि वे वस्तुतः फलव्यवस्था के अन्तर्गत अवस्थित तत्त्व हैं न कि फलप्रदापक के साधन।

अन्यथा कहा जाए तो पूर्वपक्ष ने फल और साधन की कोटियों का संकर कर दिया है। यही उसका मुख्य दोष है। दृष्टान्ततः जैसे किसी राजा ने किसी कृषक को उसके सत्कर्म के प्रतिफलस्वरूप स्वर्णमुद्रा प्रदान की तो वह स्वर्णमुद्रा फल है न कि उस राजा का साधन। उसी प्रकार योन्यादि भी कर्मफलरूप परिणति हैं साधनरूप उपकरक नहीं। अतः ईश्वर के कर्मफलप्रदान में प्रकृत्यादि को साधनतया आरोपित करना कोटिभ्रंश सम्बन्धविपर्यास तथा तर्कदोष का विषय है

पूर्व -ईश्वर के देशापरिछिन्नत्व में यह जो अनुमान बनाया गया कि--

(1) प्रतिज्ञा ईश्वर अनन्त है (देश स्थान की दृष्टि से)।

(2) हेतु ईश्वर का आरम्भ न होने से।

[व्याप्ति (वैधर्म्य से) जिस-जिस पदार्थ का आरम्भ होता है, वह वह पदार्थ भी सीमित = (अन्तवाला एकदेशी) होता है।]

(3) उदाहरण जैसे = मकान ।

(4) उपनय ईश्वर, मकान के समान आरम्भवाला नहीं है।

(5) निगमन इसलिये ईश्वर का आरम्भ न होने से, ईश्वर स्थान की दृष्टि से अनन्त है।

उक्त अनुमान की व्याप्ति व्यभिचारी है। जीवात्मा का भी आरम्भ नहीं किन्तु वह आपके मत से देश-परिछिन्न है अतः सध्याभावधिकरण में रहने से व्याप्ति अनैकान्तिक दोष युक्त है। तथा वेदांतादि मतों से उत्पन्न आकाश में देश परिछिन्नता नहीं स्वीकारी जाती अतः उनके मत से भी आकाश में अनन्तत्वरूपी साध्य के रह जाने पर भी अनुत्पत्तिरूप हेतु का अभाव मिल जाने से व्यभिचार दोष होगा।

सिद्ध - पूर्वपक्ष ने यह पञ्चावयव कहाँ से लिया है यह हमें ज्ञात नहीं अतः इसके खण्डन की कोई विशेष आवश्यकता हम नहीं समझते।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वज्ञान में ईश्वर के विषय में देशानन्तत्वसिद्धि के लिए इसी प्रकार का पञ्चावयव भी मिलता है —

"(१) प्रतिज्ञा- ईश्वर अनन्त है (देश-स्थान की दृष्टि से) ।

(२) हेतु- अनन्त सामर्थ्य वाला होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) - जिस जिस पदार्थ का सामर्थ्य सीमित होता है, वह वह पदार्थ भी सीमित (अन्तवाला एकदेशी) होता है।

(३) उदाहरण जैसे-जीव ।

(४) उपनय नहीं है। ईश्वर, जीव के समान सीमित (अल्प) सामर्थ्य वाला

(५) निगमन इसलिये अनन्त सामर्थ्य वाला होने से, ईश्वर स्थान की दृष्टि से अनन्त है ।।"

अतः यदि ऐसे पक्ष पर कोई आक्षेप किया जाता तो उसके समाधान की अपेक्षा की जा सकती थी। किन्तु केवल इस कारण कि कोई पञ्चावयव प्रस्तुत कर दिया गया है उसी मात्र से उसके खण्डन की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती। पहले यह निश्चित होना चाहिए कि उसका प्रमाणाधार क्या है, उसकी व्याप्ति किस प्रकार गृहीत है, तथा उसका साध्य-साधन-भाव वास्तव में संगत है या नहीं। इन बातों के बिना खण्डनप्रवृत्ति न्यायसंगत नहीं मानी जाएगी।

पूर्व - ईश्वर के निर्विकारत्व सिद्धी के लिए जो प्रथम अनुमान किया गया कि—

(1) प्रतिज्ञा-ईश्वर निर्विकार है (ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता)

(2) हेतु शरीरधारी न होने से। [व्याप्ति (वैधर्म्य से) जो-जो शरीरधारी होता है

वह विकारी (सुखी-दुःखी) होता है।]

(3) उदाहरण जैसे = जीवात्मा ।

(4) उपनय ईश्वर, जीवात्मा के समान शरीरधारी नहीं है।

(5) निगमन - इसलिये शरीरधारी न होने से, ईश्वर निर्विकार है (ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता)।

ठीक नहीं कारण कि "यदि जीवः विकारी स्यात्, तर्हि सः घटवत् अनित्यः स्यात्। " इस विपक्ष बाधक तर्क से दृष्टांत ही असिद्ध हो गया सो व्याप्ति भी भंग हो गई। अतः उक्त अनुमान साध्य सिद्धी में सामर्थ्य नहीं। तथा सांख्यादि मतोंसे भी विकारित्व जीवात्मा में न रहने से व्याप्ति असिद्ध है। यहाँ पर एक सत्प्रतिपक्ष प्रयोग भी किया जा सकता है।" ईश्वराय ज्ञानं नास्ति शरीरधारित्वात् घटवत्। इस सभी दोषों से दूषित होने से उक्त अनुमान व्यर्थ है।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह खण्डन सर्वथा असंगत है। कारण यह है कि यदि सिद्धान्तपक्षोपन्यस्त मूलप्रतिज्ञा को देखा जाए तो उसका अभिप्राय स्पष्टतः यह है कि—

"(१) प्रतिज्ञा ईश्वर निर्विकार है (ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता) ।

(२) हेतु - सर्वगुण सम्पन्न होने से (अथवा किसी भी प्रकार की न्यूनता कमी न होने से)

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु सर्वगुण सम्पन्न नहीं होती, उस उसमें सुखी-दुःखी होना, ज्ञान का घटना बढ़ना आदि विकार होते हैं ।)

(३) उदाहरण जैसे-जीवात्मा

(४) उपनय ईश्वर, जीवात्मा के समान न्यूनता वाला नहीं है ।

(५) निगमन - इसलिये सर्वगुणसम्पन्न होने से, ईश्वर निर्विकार है- (ईश्वर सुखी-दुःखी नहीं होता) ।।"

अत्र कतिपय विचारणीय बिन्दु हैं। सिद्धान्तपक्षीय पञ्चावयव में प्रतिपादित तात्पर्य यह है कि ईश्वर न सुखदुःखधर्मी है और न तस्य ज्ञान में वृद्धि-क्षयादिरूप विकार की संभावना है। इसके विपरीत जीव में सुख दुःख तथा ज्ञानादि के क्षेत्र में विकार प्रत्यक्षतया अनुमीयमान है। अतः ज्ञानादिवृत्तिवैचित्र्य के कारण जीव विकारवत्त्वविशिष्ट मान्य होता है।

अपि च अस्माकं पक्ष में जीव की स्थिति भी शरीरावच्छिन्न सत्ता के रूप में गृहीता है। "जीवँ प्राणधारणे" इति धातुपाठोक्तेः जीवशब्द का प्रयोग प्राणधारणविशिष्ट सत्ता पर होता है। केवल आत्मा में प्राणस्य स्वातन्त्र्येण अवस्थानाभावात् अशरीरी आत्मा को तावत् जीवशब्दवाच्य नहीं कहा जा सकता यावद् देहसम्बन्ध न हो। अतः यहाँ जीवपद का आशय देहावच्छिन्न चेतन से है न कि शुद्धात्मा से।

इसीलिए जहाँ जीवत्व है वहाँ भौतिकविकारसम्बन्ध भी स्वीक्रियते और उसी जीवावस्था का उदाहरण यहाँ प्रवर्तित है। परन्तु पूर्वपक्ष ने अन्तिम चरण में जीवशब्द को आत्ममात्रवाची मानकर समस्त तर्कसंरचना का विपर्यास कर दिया। यही उसकी मूल भ्रान्ति है। वस्तुतः जीवात्मा शब्द का

अवच्छेदक यहाँ शरीरप्राणादिसम्बन्ध है न कि निर्विशेष आत्मतत्त्व। अतः पूर्वपक्ष का आक्षेप साध्यविकल तथा अर्थान्तरग्रहदोषदूषित होकर स्वत एव निरस्त हो जाता है।

पूर्व - ईश्वर के निर्विकारत्व सिद्धी के लिए जो द्वितीय अनुमान किया गया कि--

(1) प्रतिज्ञा-ईश्वर निर्विकार है (ईश्वर गलता-सड़ता नहीं है)

(2) हेतु अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने के कारण।

[व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो-जो वस्तु अवयवों के संयोग से उत्पन्न होती है, उस-उस वस्तु में गलना, सड़ना, वृद्धि, हास आदि विकार होते हैं।]

(3) उदाहरण = जैसे सेब, केला आदि।

(4) उपनय - जैसे सेब, केला, आदि पदार्थ अवयवों के संयोग से उत्पन्न होते है,

ईश्वर वैसा नहीं है।

(5) निगमन = इसलिये अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने के कारण, ईश्वर निर्विकार है (ईश्वर गलता सड़ता नहीं है)।

इस अनुमान की भी व्याप्ति त्रिगुण साम्यरूपा प्रकृति में व्यभिचरित है। प्रकृति में स्वतः अवयव संयोग से उत्पन्न नहीं किन्तु सृष्टि के उपादान रूप में परिणाम रूपी विकार को प्राप्त होती है। अतः साध्याभावाधिकरण में

व्याप्ति जाने से व्यभिचार दोष हुआ। कथित दोष को समाप्त करने हेतु यदि कहो कि त्रिगुण की प्रकृति के अवयव हैं तो हम कहेंगे कि वह त्रिगुण तो स्वतः में अवयव संयोगरूप न होने से उनमें व्यभिचार ज्यों का त्यों बना रहेगा। यदि कहो कि प्रकृति तो परिमाणरूप मानेंगे तो भी अवयव-संयोगाभावाधिकरण रूप परमाणुओं में यत्किन्चित ही सही वीकार स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा सृष्टि ही न हो सकगी। ऐसा स्वीकार करने पर उक्त दोष पुनः लग जाएगा। रूपादि गुण भी किसी अवयव संयोग से उत्पन्न नहीं माने जाते किन्तु पाकज प्रक्रिया में उनका भी ध्वंस रूप विकार माना ही जाता है वहाँ भी कथित व्याप्ति व्यभिचारित होते हुए अनैकान्तिक हेत्वाभास युक्त हो जाती है और अपना साध्य सिद्धी का सामर्थ्य खो देती है।

सिद्ध - स्पष्टतः पूर्वपक्ष या तो पाठ को ठीक से पढ़ नहीं रहा है अथवा जानबूझकर उसके वास्तविक आशय की उपेक्षा कर रहा है। क्योंकि जिस स्थान से वह यह पञ्चावयव उठा रहा है उसी की व्याख्या में तत्त्वज्ञान ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से ऐसा कहा गया है —

"प्रथम प्रकार के विकार हैं उत्पन्न होना, बढ़ना, पकना, गलना, सड़ना,

घटना, नष्ट होना इत्यादि। जैसे- शाक, फल-फूल आदि भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते, घटते, बढ़ते, नष्ट आदि होते रहते हैं। इस प्रकार के विकार, कार्य-जगत् के सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में होते हैं। परन्तु ईश्वर में इस प्रकार का कोई विकार (उत्पन्न होना, घटना-बढ़ना, गलना, सड़ना आदि) नहीं होता। ये सब विकार उन्हीं सावयव (अवयवों वाले) कार्य पदार्थों (सेब, केला, पञ्चमहाभूत, मन, बुद्धि आदि) में ही होते हैं। ईश्वर तो निरवयव पदार्थ है और कार्य-पदार्थ भी नहीं है (उत्पन्न नहीं हुआ है)। अतः उक्त

विकार ईश्वर में नहीं होते। (जीव भी निरवयव है, तथा वह भी कार्य-पदार्थ नहीं है। अतः जीव में भी उक्त विकार नहीं होते। प्रकृति यद्यपि सत्त्व, रजस् और तमस् का संघात होने से सावयव तो है, परन्तु कार्य-पदार्थ न होने से (उत्पत्ति रहित होने से) घटना, बढ़ना, गलना, सड़ना, नष्ट होना आदि उपर्युक्त विकार प्रकृति में भी नहीं होते।"

और इसी आशय को ग्रहण करके ग्रन्थकार ने पञ्चावयव इस प्रकार निर्मित किया है —

"१) प्रतिज्ञा - ईश्वर निर्विकार है (ईश्वर गलता सड़ता नहीं है) ।

(२) हेतु - निरवयव होने से (अवयवों के संयोग से उत्पन्न न होने के कारण) ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) जो जो वस्तु सावयव (उत्पन्न) होती है, उस-उस वस्तु में गलना, सड़ना, वृद्धि, ह्रास आदि विकार होते हैं ।

(३) उदाहरण - जैसे सेब, केला आदि ।

(४) उपनय - जैसे सेब, केला आदि सावयव पदार्थ गलना-सड़ना आदि विकारों से युक्त है ईश्वर वैसा नहीं है।

५) निगमन- इसलिये निरवयव होने से, ईश्वर निर्विकार है- (ईश्वर गलता सड़ता नहीं है) ।।"

अब यहाँ साध्य का आशय ठीक से ग्रहण करना आवश्यक है। अत्र “निर्विकार” पद का तात्पर्य सर्वथा सर्वप्रकार-विकाराभाव नहीं है बल्कि विशेषतः गलन सड़न वृद्धि ह्रास नाशादि कार्यद्रव्यगत भौतिक-विकाराभाव है। यही व्याख्या में प्रत्यक्षतः निर्दिष्ट है। अतः यदि कोई यहाँ प्रकृति में

कार्यकारणभावप्राप्ति अथवा परिणामरूप स्वाभाविक परिवर्तन को पकड़कर आक्षेप करता है तो वह ग्रन्थकाराभिप्रेत विकार और अपने कल्पित विकार में भेद न कर पाने के कारण दोषग्रस्त है।

स्पष्ट बात यह है कि ईश्वर में सड़ना गलना आदि विकार नहीं आते क्योंकि वह अवयवसंयोगजन्य उत्पन्न पदार्थ नहीं है। और जहाँ तक प्रकृति का प्रश्न है वहाँ कार्यकारणभाव की प्राप्ति उसका स्वभावसिद्ध धर्म है। अतः यदि कोई स्वरूप-विकार या परिणामरूप प्रवृत्ति को लेकर आपत्ति उठाना चाहे तो वह इस प्रसंग का विषय ही नहीं है। यहाँ ग्रन्थकार ने “विकार” शब्द को सावयव कार्यपदार्थों में दृष्ट गलन सड़न वृद्धि ह्रास नाशादि भौतिक दशाओं के अर्थ में ग्रहण किया है। वे विकार प्रकृति में नहीं देखे जाते। इसलिए पूर्वपक्ष का तर्क असिद्ध हो जाता है।

पूर्व - ईश्वर को अभय सिद्ध करने हेतु यह जो अनुमान बनाया कि--

(1) प्रतिज्ञा-ईश्वर अभय है (कभी भयभीत नहीं होता)।

(2) हेतु तत्त्वज्ञानी होने से।

[व्याप्ति (साधर्म्य से) जो-जो तत्त्वज्ञानी होता है, वह वह अभय होता है।

(3) उदाहरण - जैसे महर्षि दयानन्द सरस्वती।

(4) उपनय ईश्वर भी महर्षि दयानन्द सरस्वती के समान तत्त्वज्ञानी है।

(5) इसलिये तत्त्वज्ञानी होने से, ईश्वर अभय है निगमन भयभीत नहीं होता)।

यह तो स्वयं का ही उपहास करने वाला अनुमान बना दिया। अनुमान का स्तर कितना गिरा दिया। इतना की कहना पर्याप्त है कि दृष्टांत हमारे मत से से असिद्ध है अतः अनुमान खण्डित है।

सिद्ध - पूर्वपक्ष की स्थिति यहाँ अत्यन्त मूर्खतापूर्ण प्रतीत होती है। जब वह स्वयं वितण्डा में प्रवृत्त है तब उसके मत में किसी पक्ष की सिद्धि हो या न हो उससे उसे क्या प्रयोजन? वितण्डा का लक्षण ही यह है कि स्वपक्षस्थापन के बिना केवल परपक्षभङ्ग किया जाए। अतः जहाँ स्वयं प्रतिपाद्यसिद्धि का आग्रह ही नहीं वहाँ “यह सिद्ध हुआ या नहीं हुआ” इस प्रकार की चिन्ता उठाना उसकी वितण्डावृत्ति के प्रतिकूल है। इससे तो यही प्रकट होता है कि पूर्वपक्ष न तो वितण्डा का स्वरूप ठीक से जानता है और न उसके अनुष्ठान की पद्धति।

और इससे भी अधिक विचारणीय बात यह है कि पूर्वपक्ष ने जिस पञ्चावयव को लक्ष्य बनाकर आक्षेप उपस्थित किया वह भी यथार्थरूपेण ग्रहण नहीं किया। वास्तविक पञ्चावयव तो यह है —

"प्रतिज्ञा-- ईश्वर अभय है (कभी भयभीत नहीं होता) ।

हेतु -- ईश्वर से अधिक बलवान्, उस पर अन्याय करने वाला, दूसरा कोई पदार्थ न होने से ।

(व्याप्ति-(वैधर्म्य से) -- जहाँ-जहाँ कोई दूसरा पदार्थ, किसी से अधिक बलवान् अन्यायकारी होता है, वहाँ-वहाँ उससे भय लगता है ।)

उदाहरण -- जैसे किसी कमज़ोर मनुष्य को, किसी बलवान् डाकू से भय लगता है ।

उपनय -- ईश्वर, कमज़ोर मनुष्य जैसा नहीं है।

निगमन -- इसलिये ईश्वर से अधिक बलवान्, उस पर अन्याय करनेवाला, दूसरा कोई पदार्थ न होने से, ईश्वर अभय है (कभी भयभीत नहीं होता) ।।"

तथा द्वितीय पञ्चावयव यह है —

"(१) प्रतिज्ञा ईश्वर अभय है (कभी भयभीत नहीं होता) ।

(२) हेतु कभी भी अन्याय न करने से ।

(व्याप्ति (वैधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति अन्याय करता है, उसे उसे अन्य लोगों से भय लगता है ।)

(३) उदाहरण - जैसे किसी कर्मचारी को, एक नागरिक पर अन्याय करने पर, अपने अधिकारी से भय लगता है।

(४) उपनय ईश्वर, कर्मचारी के समान अन्याय नहीं करता ।

(५) निगमन इसलिये कभी भी अन्याय न करने से, ईश्वर अभय है- (कभी भयभीत नहीं होता) ।"

अतः स्पष्ट है कि पूर्वपक्ष ने इन यथार्थ पञ्चावयवों का समुचित खण्डन कर पाने में अपनी असमर्थता को देखकर ही विषयांतर ग्रहण किया और मूल पञ्चावयव को छोड़कर अन्यत्र आक्षेप आरम्भ कर दिया। यह उदाहरण-विपर्यास भी है, प्रकृतवस्तु-परित्याग भी है, और असंगत-वितण्डा भी। जो वादी यथार्थ प्रतिज्ञा, यथार्थ हेतु, तथा तदनुकूल व्याप्ति को ही ग्रहण न कर सके, उसके द्वारा किया गया खण्डन न्यायमण्डले ग्राह्य नहीं होता। इसलिए कहना पड़ेगा कि इन दोनों पञ्चावयवों के समुचित भङ्ग में असमर्थ होकर ही पूर्वपक्ष ने जानबूझकर विकृत रूप ग्रहण किया।

पूर्व - ईश्वर के सर्वव्यापकत्व की सिद्धी के लिए जो अनुमान किया गया कि

(1) प्रतिज्ञा ईश्वर सर्वव्यापक है।

(2) हेतु सर्वज्ञ होने से।

[व्याप्ति (वैधर्म्य से) जो-जो व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं होता है, वह वह सर्वव्यापक भी

नहीं होता है।

(3) उदाहरण जैसे जीवात्मा।

(4) उपनय जीवात्मा के समान ईश्वर सर्वज्ञ न हो, ऐसा नहीं है।

(5) निगमन इसलिये सर्वज्ञ होने से, ईश्वर सर्वव्यापक है।

यह अनुमान भी उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि ईश्वर में सर्वज्ञत्व ही अभी सन्दिग्ध है। असिद्ध हेतु से साध्य की सिद्धी होती नहीं। द्वितीय बात यह है कि अनुमान की व्याप्ति भी व्यभिचारी है क्योंकि आकाश में भी सर्वव्यापी है किन्तु सर्वज्ञ नहीं है। अतः साध्याभावाधिकरण में हेतु के चले जाने से हेतु व्यभिचारी है। एक बात यह भी है कि अनुमान में हेत्वाभाव को व्याप्य तथा साध्याभाव को व्यापक बनाया गया है जोकि व्यतिरेक व्याप्ति को नियम के विरुद्ध है। आश्चर्य है कि इतने बड़े आचार्य को भी व्यतिरेक व्याप्ति के नियम का ज्ञान नहीं!

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह तर्क सुनकर यही प्रतीत होता है कि वह अपनी मन्दबुद्धिता का ही उद्घाटन कर रहा है। जिसे उदाहरण और व्याप्ति का भेद ही ठीक से न समझ में आता हो उसे पहले अनुमानशास्त्र का प्राथमिक अभ्यास करके आना चाहिए। आकाश को बीच में घसीटना भी उसी अज्ञान का प्रमाण है। यदि आकाश चेतन होता तो ज्ञानाश्रयत्व की सम्भावना होती और तब सर्वज्ञत्व की चर्चा उठ सकती थी। परन्तु आकाश में चेतनत्व का ही अभाव है और ज्ञानगुण का अत्यन्ताभाव है अतः वह सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिए आकाश को लेकर सिद्धान्तपक्ष की व्याप्ति पर आक्षेप करना सर्वथा असंगत है।

दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्ष ने पुनः सिद्धान्तपक्ष का पञ्चावयव ठीक रूप में ग्रहण ही नहीं किया। मूल पञ्चावयव तो यह है —

"(१) प्रतिज्ञा - ईश्वर सर्वव्यापक है ।

(२) हेतु - सर्वज्ञ होने से ।

(व्याप्ति - (वैधर्म्य से) जो जो व्यक्ति अल्पज्ञ होता है, वह वह एकदेशी होता है ।)

(३) उदाहरण - जैसे-जीवात्मा ।

(४) उपनय - जीवात्मा के समान ईश्वर अल्पज्ञ नहीं है।

(५) निगमन - इसलिये सर्वज्ञ होने से, ईश्वर सर्वव्यापक है ॥"

अब यहाँ विचारणीय बिन्दु यह है कि व्याप्ति का केन्द्र अल्पज्ञत्व और एकदेशित्व का साहचर्य है। अर्थात् जहाँ अल्पज्ञत्व है वहाँ परिच्छिन्नता है।

जीवात्मा इसी का उदाहरण है। ईश्वर में अल्पज्ञत्व का सर्वथा अभाव है अतः उसे जीववत् एकदेशी सिद्ध नहीं किया जा सकता। पूर्वपक्ष इस मूल बिन्दु का खण्डन कर नहीं पाया। वह यह नहीं दिखा सका कि अल्पज्ञत्व रहते हुए भी कोई सत्ता अपरिच्छिन्न हो सकती है अथवा सर्वज्ञत्व के रहते भी एकदेशित्व सिद्ध हो सकता है। इसी असमर्थता के कारण उसने सिद्धान्तपक्ष का पञ्चावयव ही विकृत रूप में प्रस्तुत किया।

और भी स्पष्ट रूप में कहें तो पूर्वपक्ष का दोष यह है कि उसने अल्पज्ञत्वाभाव और सर्वज्ञत्व के सम्बन्ध को ठीक से नहीं पकड़ा। जब व्याप्ति यह है कि अल्पज्ञ एकदेशी होता है तब उसका प्रतिलोम आशय यह है कि जो सर्वज्ञ है वह जीववत् परिच्छिन्न नहीं होगा। इस बिन्दु का यथार्थ खण्डन न कर सकने के कारण ही पूर्वपक्ष ने पञ्चावयव को यथारूप न लेकर विकृत कर दिया। अतः उसका आक्षेप न व्याप्तिभञ्जक है न साध्यभञ्जक बल्कि केवल उसके तर्कदौर्बल्य का प्रकाशक है।

पूर्व - आपसे प्रथम तो यही पूछा जाए कि यह सत्ता क्या है? क्या स्वरूप है? या जाती है? धर्म है? अथवा कुछ और?

प्रथम विकल्प तो उचित नहीं कारण कि घटसन् पटसन् ऐसा बोध सर्वलोकानुभव सिद्ध है। घट पटादि पदार्थ-निमित्त जो व्यवहार वह है सदरूप का त्याग न करते हुए ही प्रतीत होता है। अब यह विचार्य है कि वह घटपटादि भिन्न भिन्न वस्तु स्वरूप ही सत् है अथवा सत् का और कुछ स्वरूप है? स्वरूप भिन्न भिन्न है। घट पटादि वस्तु स्वरूप सत् होनेसे सत् की भी भिन्नता स्वीकारनी होगी। भिन्न भिन्न सत् द्वारा 'सत्' 'सत्' ऐसी अनुगत बुद्धि सुसंगत नहीं हो सकती। घटादियोंकी परस्पर विलक्षणता होने

से उसमे सन् घटः सन् पटः इत्यादि रूप से एकाकार बुद्धि नहीं हो सकती। यदि अनुगत सद्बुद्धि का कारण अननुगत भिन्न भिन्न स्वरूप सत् होगा तो जाति आदि अनुगत पदार्थ स्वीकार निष्फल है क्योंकि सर्वत्रही मनुष्यादि अननुगत पदार्थ द्वाराही अनुगत मनुष्यत्वादि जाति-बुद्धि उत्पन्न होगी। वस्तुत्वरूप से विलक्षण अनुगत सत् न रहनेसे अनुगत सद्बुद्धि विषयशून्य होगी। 'वही यह दीप है' ऐसा अनुगत प्रत्यय और व्यवहार रहते हुए भी वहां पर दिपज्वाला के परिमाणादि का भेद ही भेदक होता है परतु इस स्थल में ऐसा कुछ नहीं है। अतएव अनुगत बुद्धि होनेसे अनुगत विषय मानना होगा। सत् सत् ऐसी प्रतीतिके अनुसार वस्तु रूप सत् नहीं है। वस्तु स्वरूप सत् होनेसे भिन्नता लोप जाएगी क्योंकि सब ही सत हैं। घट सन् इस रूप से प्रतीयमान सत् घटादिस्वरूप नहीं है। जैसे घटः सन् ऐसा अनुभव होता है वैसा घट-घट यह अनुभव नहीं होता । घटादि स्वरूप ही यादि सत् होता तो वस्तुका द्वैरूप्य अयुक्त होने से वह घटादि सर्वदा सत् ही होते। ऐसा होने से उनका उत्पत्ति नाश ही न होता । सर्वथा सत् होनेसे उत्पत्ति पहले और नाशके अनन्तर भी उसकी उपलब्धि होती। घटादि स्वरूप ही सद्बुद्धि का विषय है ऐसा कहनेके लिए पट शब्द और सत् शब्द का एकार्थत्व कहना होगा। किंतु यह अनुपपन्न है। सत् शब्द का घटादि पद से सह प्रयोग अयुक्त है। ऐसा होनेसे सद्बुद्धि और घटादि बुद्धि का अवैलक्षण्य हो जायगा । सन् प्रतीति वस्तुतः विशेषण-विशेष्य भाव मूलक होने से एकत्व विरोधी है। अन्यथा विशेषण-विशेष्य का भेद ही सिद्ध न हो सकेगा।घट में सत्ता जाति का स्फुरण होने से 'सन् घटः ऐसी प्रतीति मानोगे तो 'जातिः सती,' 'समवायः सन्,' 'विशेषः सन्', 'अभावः सन्' इस प्रकार से अभावादि में जो सत् के तादात्म्य की प्रतीति होती है, वह सत्ता जाति के स्फुरण के बल पर सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि अभावादि में सत्ता जाति का स्फुरण नहीं माना जाता।

सिद्ध - प्रथमतः यह पूर्वपक्षीय तर्क सर्वथा निष्फल है क्योंकि सिद्धान्तपक्ष में अभाव को सत् नहीं माना जाता। कारण यह है कि किसी वस्तु के विषय में अस्ति-बुद्धि का उदय होना ही उसके सत्त्व का लक्षण है। जहाँ किसी वस्तु के प्रति यह बोध उत्पन्न होता है कि यह है वहाँ सत्त्व की प्रतिष्ठा होती है। परन्तु अभाव के विषय में ऐसा नहीं होता। वहाँ तो वस्तुतः नास्ति-बुद्धि ही उत्पन्न होती है अर्थात् यह नहीं है ऐसा ज्ञान होता है। अतः जो सत्ता का लक्षण है उसके प्रतिलोम का जहाँ आविर्भाव हो रहा है वहाँ पदार्थत्व की स्थापना करना न्यायसम्मत नहीं।

यदि पूर्वपक्षी यह कहे कि अभाव में भी अस्ति-बुद्धि होती है क्योंकि हम घटाभाव है ऐसा व्यवहार करते हैं अतः वहाँ भी किसी प्रकार की अस्तित्व-प्रतिति अवश्य माननी पड़ेगी तो यह उत्तर भी संगत नहीं। यहाँ अभाव नामक किसी स्वतन्त्र वस्तु का बोध नहीं होता बल्कि केवल घट की अनुपस्थिति का बोध होता है। दूसरे शब्दों में वहाँ ज्ञान का विषय कोई अभावरूप पदार्थ नहीं बल्कि घट-अनुपलब्धि-विशिष्ट अधिकरण ही होता है। यदि इस भेद को न माना जाए तो अस्ति और नास्ति का सर्वथा संकर हो जाएगा और समस्त व्यवहारव्यवस्था ध्वस्त हो जाएगी। अभावशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त किसी भावपदार्थ का द्योतन नहीं बल्कि किसी विशिष्ट वस्तु की अनुपस्थिति का बोध कराना मात्र है।

यही कारण है कि अभाव को भावपदार्थों की कोटि में प्रतिष्ठित करना दुरुपपन्न है। द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय इन भावपदार्थों में प्रत्यक्षप्रमाणजन्य विषयता किसी न किसी प्रकार से स्वीक्रिय है। परन्तु अभाव नामक कोई पृथक् वस्तु कभी भी इन्द्रियगोचर नहीं होती। वह न चक्षु का विषय बनती है न श्रोत्र का न स्पर्श का न रसना का न घ्राण का

और न ही किसी बाह्य इन्द्रिय के अवलम्बन से उसकी पदार्थतया प्रतीति सिद्ध होती है। अतः इन्द्रियग्राह्यता-अभाव से उसका भावपदार्थतुल्य पदार्थत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता।

आधुनिक दर्शन-जगत् में कुछ विदुषी व्यक्तियों ने अभाव को निषेध से पृथक् मानने का प्रयास किया है परन्तु वह भी न्यायपरीक्षा में स्थिर नहीं रह सकता। यदि कोई यह कहे कि अभाव निषेध नहीं है तो उसके विरुद्ध यह स्पष्ट कहा जाएगा कि नव्यवैशेषिक-ग्रन्थों में भावनिषेधोऽभावः इति लक्षण प्रतिपादित है। यद्यपि मात्र लक्षणोक्ति से किसी वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती तथापि यह तो स्पष्ट हो जाता है कि अभाव का विचार निषेधपरक ही है न कि किसी स्वतन्त्र भावतत्त्व की तरह। अतः यह कहना कि अभाव का प्रयोग केवल व्याकरण में है वैशेषिक में नहीं यह असंगत है। किन्तु इससे भी अभाव का पृथक् सत्पदार्थत्व सिद्ध नहीं होता क्योंकि लक्षण का प्रयोजन व्यवहार-व्याख्या भी हो सकता है न कि वस्तुसत्ता-प्रतिष्ठा ही।

मेज पर पुस्तक नहीं है इस प्रकार के अनुभव को लेकर यदि पूर्वपक्षी प्रत्यक्षाभाव का आग्रह करे तो उसका समाधान यह है कि वहाँ रिक्ताधिकरण का अनुभव होता है न कि अभाव नामक किसी पदार्थ का। अनुभव का आश्रय मेज है और बुद्धि में उदित निषेध यह है कि पुस्तक यहाँ उपस्थित नहीं। अतः वहाँ पुस्तक-अभाव नामक किसी सकारात्मक वस्तु की विषयता नहीं सिद्ध होती। वस्तुतः वहाँ अधिकरणग्रहणपूर्वक प्रतियोगी-अनुपस्थिति का बोध होता है। यह बोध निषेधात्मक है न कि अभावरूप किसी भाववस्तु का साक्षात्कार।

यदि पूर्वपक्षी पूछे कि पुस्तक मेज पर नहीं है इस अनुभव का आधार क्या है पुस्तक का भाव या उसका अभाव तो उत्तर यह है कि यहाँ कोई व्याघात

नहीं। व्याघात तो तब उत्पन्न होता है जब आप अभाव को सत् मानकर भी उससे नास्ति-बुद्धि की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। जो वस्तु सत् हो वह अपने स्वरूप से अस्ति-बोधक होनी चाहिए न कि नास्ति-बोधक। यदि सत् कही जाने वाली वस्तु ही अनस्तित्व का बोध कराए तो यह सत्त्वलक्षण का व्यभिचार होगा। अतः अभावसत्त्ववाद अपने ही प्रतिज्ञात लक्षण का बाधक सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष की व्याप्ति भी स्थिर नहीं है। क्योंकि निषेधवाक्यों में एकरूपता अनिवार्य नहीं। घट पट नहीं है यह वाक्य कभी तादात्म्यनिषेध में प्रयुक्त हो सकता है कभी साधर्म्यनिषेध में। इसी प्रकार देवदत्त यज्ञदत्त जैसा नहीं है इस वाक्य में प्रकरणानुसार कभी सदृश्यता का निषेध ग्रहण होगा कभी किसी विशिष्ट धर्मसम्बन्ध का। इससे यह सिद्ध होता है कि निषेधप्रयोग सर्वत्र किसी एक ही स्वतंत्र अभावपदार्थ का वाचक नहीं होता। अपितु वक्तृतात्पर्य प्रकरण तथा अपेक्षित प्रतियोगी के अनुसार अर्थनिश्चितिः होती है। इस प्रकार पूर्वपक्ष की वह व्याप्ति कि जहाँ जहाँ निषेधवाक्य है वहाँ वहाँ अभावरूप पदार्थ की सत्ता है व्यभिचारदूषित है।

इसी से यह भी सिद्ध होता है कि अभाव को षट्पदार्थातिरिक्त सातवें पदार्थरूप में प्रतिष्ठित करना वैशेषिकमूलसिद्धान्त के प्रतिकूल है। पदार्थधर्मसंग्रहकार ने द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय इन षट्पदार्थों को ही सत्पदार्थरूपेण प्रतिष्ठित किया है। यदि इनके अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता का आरोप किया जाए तो वह मूलसिद्धान्त का अतिक्रमण होगा। अतः अभाव का सत्पदार्थत्व न वैशेषिक-सम्मत है न न्यायतः अविकल।

अब अभिधेयत्व की परीक्षा की जाए। केवल किसी शब्द का किसी प्रसंग में प्रयोग हो जाना अभिधेयत्व का पर्याप्त साधक नहीं। अभिधा का स्वरूप

अत्यन्त सूक्ष्म है। उदयनाचार्य ने अभिधानयोग्यता को अभिधा माना है। गौरीनाथ ने किरणावली में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि जो अर्थ शब्दोच्चारणजन्य ज्ञान में विषयतारूप से अवतीर्ण हो वही अभिधेय है। इस कसौटी पर अभाव का परीक्षण करने पर स्पष्ट होता है कि अभावशब्द के श्रवण से किसी सकारात्मक वस्तु की प्रतीति नहीं होती। वहाँ केवल निषेधबुद्धि उदित होती है। अतः अभाव में अभिधानयोग्यता सिद्ध नहीं होती। वह शब्दजन्य सकारात्मक अर्थ नहीं बल्कि निषेधात्मक बोध की दिशा में प्रयुक्त व्यावहारिक संकेत मात्र है।

और यदि अभिधेयत्व को षट्पदार्थसाधर्म्य माना जाए तो अभाव वहाँ भी असफल सिद्ध होता है। क्योंकि अभिधेय वह है जो शब्दप्रयुक्ति से अर्थरूपेण अवच्छिन्न होकर ज्ञान में विषयतां प्राप्त करे। अभाव में ऐसा नहीं। वहाँ न तो किसी वस्तुस्वरूप की प्रकारता है न धर्मित्व का स्फुरण न भाववस्तुनिष्ठ अवच्छेदक-सम्बन्ध का प्रकाश। केवल प्रतियोगी-वस्तु की अनुपस्थिति का बोध होता है। अतः अभिधेयत्व की प्रतिष्ठा भी वहाँ नहीं बनती।

जब अभाव न सत् सिद्ध होता है न अभिधेय तब उसका ज्ञेयत्व भी स्वतः अपसृत हो जाता है। ज्ञेय वही है जो किसी प्रमाण का विषय बन सके और प्रमाणविषयता सामान्यतः सत्त्व तथा अभिधानयोग्यता से सम्बद्ध होती है। अभाव यदि न प्रत्यक्षविषय है न शब्दार्थरूपेण स्थापित है तो उसके ज्ञेयत्व की स्वतंत्र स्थापना निरर्थक विस्तार मात्र है। वहाँ ज्ञेयता का जो आभास है वह वस्तुतः निषेधबुद्धि का आभास है न कि अभावरूप किसी वस्तु का प्रमेयत्व।

अतः सिद्धान्त यह है कि अभाव कोई स्वतन्त्र सत्पदार्थ नहीं। वह न भावपदार्थवत् प्रत्यक्षसिद्ध है न अभिधानयोग्य है न प्रमेयतया अविकल है।

अभावशब्द का समस्त व्यवहार किसी प्रतियोगी-वस्तु की अनुपस्थिति का बोध कराने में पर्यवसित होता है न कि किसी पृथक् पदार्थसत्ता की स्थापना में। इस प्रकार पूर्वपक्ष का अभावसत्त्ववाद स्वलक्षणव्याघात व्याप्तिव्यभिचार इन्द्रियाग्राह्यत्वाभाव अभिधानयोग्यताभाव तथा व्यवहारसंकरापत्ति इन सब दोषों से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा निरस्त है।

पूर्व - आर्य-मुनि ने यह जो कहा कि-

"वैदिक अद्वैत वादियों के मत में प्रकृति तदाश्रित होने से विजातीय भेद की आपादक नहीं, या यों कहो कि प्रकृति की ऐसी स्वतन्त्र सत्ता नहीं जिसके कारण वह परमात्मा से अत्यन्त भिन्न कही जा सके" (उप-आर्य० भा० पृ०३४९)

यह तो अत्यंत हास्यास्पद है। खण्डन की उत्तेजना में यह भी न विचार किया की कह क्या रहें हैं। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का निषेध कर उसे ब्रह्माश्रित मानते होतो उसका मिथ्यात्व निश्चित है। शुक्ति-रुप्यवत् आश्रित सत्ता सदैव वस्तु के स्व-स्वरूप के असत्त्व के ओर ही सकेत करती है।

यह पर आपसे पूछा जा सकता है कि ब्रह्म तथा जी जगत है, वह ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न है या भिन्नाभिन है? यदि भिन्न मानो, तो कार्य सत् है या असत् है या सदसत् है? प्रथम पक्ष में कार्य की कारण सत्ता है या कार्य सत्ता? प्रथम पक्ष तो युक्त नहीं है, क्योंकि कार्य और कारण दोनों की यदि सत्ता एक हो, तो अपनी सत्ता का अभाव होने से कार्य का असत्त्व ही प्राप्त

होगा। दूसरे पक्ष में कार्य की सत्ता सत्-रूप है या असत्-रूप है? प्रथम पक्ष में सद्रूप कार्य की सत्ता कारण की सत्ता से भिन्न है या अभिन्न है? प्रथम पक्ष तो हो नहीं सकता, क्योंकि पूर्ण और निरन्तर ईश्वर की सत्ता से भिन्न कार्य की सत्ता नहीं हो सकती, इसा लिए कार्य का असत्त्व ही होगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों सत्ताओं को सद्रूप से एक मानने में कार्य का कारण से भिन्न होना असंभव होनेके कारण कार्य में असत्त्व का व्याघात न होगा। और असद्रूप से भिन्न कार्य की सत्ता के स्वतः स्वरूप का अभाव होने से कार्य की शून्यता ही प्राप्त होगी।कार्य को असत् मानने से शशश्रृङ्गवत् जगत् स्वरूप से शून्य होगा, इस परिस्थिति में जगत् ब्रह्म का कार्य है, यह कथन ठीक नहीं होगा। यदि कहो कि असत् जगत् भी प्रध्वंसाभाव के समान कार्य हो ही सकता है, तो यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रध्वंसाभाव का भी कारण से सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसलिए प्रध्वंसाभाव में कार्यत्व उपपन्न नहीं है। जैसे कर्ता, करण आदि कारक सम्बन्ध होने पर जनिक्रिया होने से घटादि में कार्यत्व देखने में आता है, वैसे ही कारक सम्बन्धवाले प्रध्वंस में भावत्व की प्राप्ति होने पर वह अभाव है, ऐसा कथन युक्त नहीं है, इसलिए सावयव सत् का ही कारक सम्बन्ध घटता है, दूसरे का नहीं। अत्यन्त असत् प्रध्वंस का घटनाशक सामग्री से सम्बन्ध नहीं घटता, सम्बन्ध का अभाव होने से प्रध्वंसाभाव कार्य नहीं है, इसी प्रकार असत् जगत् में कार्यत्व भी सिद्ध नहीं होता। सत्व और असत्त्व पक्ष में भी सत्य और असत्त्व-भाव और अभावरूप-धर्म एक दूसरे से विरुद्ध हैं, इसलिए उनका एक अधिकरण नहीं हो सकता, अतः इस प्रकार के भिन्न-भिन्न धर्मो के उपपन्न न होने से जगत् का अह्मकार्य होना उपपन्न नहीं है। तब कार्य और कारण अभिन्न ही हैं, ऐसा यदि कहो, तो यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि बहुत से अन्यों की प्राप्ति का प्रसंग होगा-जडस्वरूप इस जगत् को ब्रह्म से अभिन्न मानोगे, तो ब्रह्म भी दृश्य, अनित्य, अप्रकाश, दुःखरूप, सावयव है,

इत्यादि दोषों की परम्परा की प्राप्ति होगी। यदि कहो कि यह तो हमको इष्ट ही है, तब तो जगत्की अंधता का प्रसंग आनेसे 'में, मेरा' इत्यादि व्यवहार ही तुम्हारा सिद्ध नहीं होगा। यदि जीवादि भी जड हो जाएंगे, तो ज्ञानकी उत्पत्ति न होनेसे मोक्षके अभाव का प्रसंग होगा। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की इच्छा करनेवाले सत्पुरुषों की मुक्ति में प्रवृत्ति नहीं होगी। प्रकृति की ऐसी स्वतंत्र सत्ता नहीं कि वह ईश्वर से अत्यंत भिन्न कही जा सके तो क्या कहा जाए? साक्षात सम्बन्धेन एक कालावच्छेदेन, एकाधिकारण में एक वस्तु या तो भिन्न होगी, या अभिन्न होगी। इससे भिन्न कोई विकल्प नहीं है। यदि अभिन्न नहीं तो भिन्न कहना होगा। यदि व्यधिकरण रूप से यदि समन्वय करना चाहो तो अतिप्रसक्ति होने से बनेगा नहीं। और यदि वह भिन्न नहीं तो अभिन्न ही कहना होगा तब तो वह अपनी स्वतंत्रत सत्ता खो देगी। अतः आपका तीन भिन्न सत्ताओं का सिद्धांत स्वतः खण्डित हो जाएगा।

सिद्ध - पूर्वपक्ष के इस प्रकार के तथाकथित खण्डन को देखकर हम उसी से यह निवेदन करते हैं कि वह पुनः सम्यक् अध्ययन करके आए तथा पाठबोध की न्यूनतम योग्यता भी साथ लाए क्योंकि यहाँ जो आपत्ति वह उत्साहपूर्वक उपस्थित कर रहा है वह मूलपाठ-अवगाहन-असमर्थता-जन्य है न कि सिद्धान्त-पक्षभेदनसमर्थ कोई युक्ति।

वस्तुतः आर्य मुनिजी ने वहाँ स्वमत का तात्कालिक प्रतिपादन नहीं किया है अपितु पूर्वपक्षी-अभिप्राय का निरूपण करके ततः परं उसका क्रमशः निरास किया है। यही कारण है कि उनके वाक्य-प्रवाह में पूर्वपक्ष-उपन्यास

और सिद्धान्त-प्रतिपादन का विभाग स्पष्टतया अवगम्य है। किन्तु पूर्वपक्षी ने अवान्तर-भेद-विवेक के अभाववश पूर्वपक्षोपन्यास को ही सिद्धान्त-वचन मान लिया। यही उसके समग्र आक्षेप की मूलदोषभूमि है।

आर्य मुनिजी का कथन स्वयं देखिए —

" यदि यह कहा जाय कि रथनाभि में अरों के समान इस प्राकृत वर्ग के ओतप्रोत होने से विजातीय भेद बना रहता है फिर विजातीय भेदशून्य ब्रह्म कैसे ? इसका उत्तर यह है कि वैदिक अद्वैत वादियों के मत में प्रकृति तदाश्रित होने से विजातीय भेद की आपादक नहीं, या यों कहो कि प्रकृति की ऐसी स्वतन्त्र सत्ता नहीं जिसके कारण वह परमात्मा से अत्यन्त भिन्न कही जा सके पर मायावादियों के मत में अविद्या तो ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न है फिर अविद्या से विलक्षण ब्रह्म को मानते हुए इनके मत में विजातीय भेद क्यों नहीं ? यदि यह कहा जाय कि समुद्र के दृष्टान्त से यहां एकत्व बोधन किया गया है ? तो उत्तर यह है कि रथनाभि के दृष्टान्त से नाभिरूप ब्रह्म में अरों के समान सम्पूर्ण प्राकृतिक वर्ग का ओतप्रोत होना स्पष्ट भेद का प्रतिपादक है फिर अत्यन्त अभेद सिद्धि कैसे ? इस प्रकार आद्योपान्त विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि षोडशकल पुरुष यहां जीवात्मा को वर्णन किया गया है और परमात्मा को प्रलयकाल में सब कलाओं का आधारभूत वर्णन किया है जिससे वैदिक भेदवाद की सिद्धि स्पष्टतया पाई जाती है।"

अब यहाँ साध्य-साधन-भाव का यथार्थ निरीक्षण करो। यदि आर्य मुनिजी वास्तव में अद्वैत का स्वपक्ष प्रतिपादित कर रहे होते तो उपसंहार में भेदवाद अथवा त्रैतवाद-सिद्धि का निष्कर्ष कदापि न देते। उपक्रमोपसंहार-सामञ्जस्य ही यहाँ निर्णायक अवच्छेदक है। जहाँ निष्कर्षरूपेण वैदिक भेदवाद की सिद्धि प्रतिपादित की जा रही है वहाँ पूर्ववर्ती अद्वैत-संबद्ध

कथन को स्वमत ठहराना पाठविपर्यास मात्र है। अतः यहाँ पूर्वपक्षी का आक्षेप स्वविषय-अनवगाहन-जन्य है।

और भी स्पष्ट कहें तो यदि आर्य मुनिजी अपना निजमत ही प्रतिपादित कर रहे होते तो अन्त में भेदवाद या त्रैतवाद की सिद्धि कैसे स्थिर होती। सिद्धान्त-वचन का फल सिद्धान्तानुकूल होना चाहिए न कि प्रतिपक्षानुकूल। किन्तु यहाँ तो निर्णय भेदवाद-पक्षे निष्पन्न हो रहा है। इससे सिद्ध है कि पूर्ववर्ती अद्वैत-संबद्ध प्रस्तुति केवल पूर्वपक्ष-प्रदर्शनार्थ थी न कि सिद्धान्त-स्वीकारार्थ। अतः पूर्वपक्षी द्वारा किया गया खण्डन वस्तुतः असिद्ध विषय पर चलाया गया प्रहार है। जहाँ लक्ष्य ही मिथ्या-कल्पित हो वहाँ प्रहार की समस्त चेष्टा व्यर्थ जाती है।

अतः निष्कर्ष यही है कि पूर्वपक्षी ने न वाक्यविभाग समझा न पक्षभेद जाना न उपसंहार की निर्णायकता ग्रहण की। इस कारण उसका समस्त खण्डन निरालम्ब है। उसने आर्य मुनिजी के मत का खण्डन नहीं किया अपितु अपने ही कल्पित अर्थपुञ्ज का खण्डन करके आत्मतोष प्राप्त किया है। इसलिए इससे हमारे पक्ष का किंचित् अपि बाध उत्पन्न नहीं होता। उलटे यही सिद्ध होता है कि पूर्वपक्ष अभी अध्ययन-अधिकार की आरम्भिक अवस्था में ही है और उसे पुनः पाठबोध तथा पक्षनिर्णय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

पूर्व - ईश्वर के ज्ञान पर भी विचार किया जाए कि क्या वह स्वरूप ही है या गुण? द्वितीय पक्ष तो बनता नहीं कारण कि ईश्वर को स्वरूपतः जड़ मानने कि आपत्ति है। यह भी आपसे पूछा जाए कि किस संबंध से ज्ञान ईश्वर में रहेगा? समवाय? या संयोग?" या सत्यार्थ प्रकाशानुसार--"इन का

बनाने वाला चेतनअवश्य है और वह बनाने वाला ज्ञानस्वरूप है।" (सत्०प्र०द्वादशसमुल्लासः) तादात्म्य ? अथवा कोई अन्य संबंध?

समवाय तो बनेगा नहीं कारण कि उसका निर्वचन ही सम्भव नहीं। संयोग भी नहीं बनेगा क्योंकि आप्रप्त प्रप्तिरूप संयोग मानने पर ईश्वर के ज्ञान को अनित्य मानने की आपत्ति है। तृतीय तादात्म्य भी नहीं बनेगा क्योंकि जो सत्यार्थ प्रकाशकार ने "ज्ञानस्वरूप" है उसपे पूछा जा सकता है कि वह सामान्य ज्ञान स्वरूप है? अथवा विशेष ज्ञान स्वरूप है? प्रथम पक्ष में तो ईश्वर घटादि स्वरूप हो जाने से उसका स्वरूप ही भंग हो जाएगा द्वितीय विकल्प में ईश्वर में असर्वज्ञापत्ति होगी। यही भी है कि ज्ञानस्वरूप ईश्वर में

ईक्षणादि की कल्पना भी कैसे सम्भव है? यदि कल्पना की जाती है तो ईश्वर का आगन्तुक तथा नित्य दो स्वरूप हो जाने से एकरसता भंग हो जाएगी स्वरूप-उच्छेद हो जाएगा। ईक्षणादि का अभाव मान लेने से तो संसाराभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। ईश्वरीय ज्ञान क्या स्वप्रकाश है? या परप्रकाश ? प्रथम पक्ष में तो नित्य-ईश्वर का भान मानने की आपत्ति है। द्वितीय में तो ईश्वर जड़ हो जाने से ईश्वर का ही उच्छेद हो जाएगा।

यह भी बताइए कि ईश्वरगत ज्ञान तथा घटगत ज्ञान में कोई भेद है या अभेद? यदि भेद है तो भेदक का निर्वचन करिए। यदि कहो कि प्रतीति के अधार पर करेगें तो असम्भव है कारण कि ज्ञान-ज्ञान यह प्रतीति सकल अनुगत ही है। दूसरी बात प्रतीति के अधार विषय भेद होगा तथा विषयभेद होतो प्रतीति भेद ता निश्चय हो इसमें स्पष्ट अन्योन्याश्रय है। तृप्त बात यह

भी है कि यदि विषय भेद मात्र से प्रतीति भेद होतो 'यह देवदत्त' 'वह देवदत्त' में भी भेद मानना पड़ेगा। यदि प्रतीति का भेद मान भी लें तो ज्ञान गुण होने से प्रतीति भेद से ज्ञानत्व जाती का ही उच्छेद हो जाएगा। यदि अभेद मानते होते घटज्ञान के साथ ईश्वर ज्ञान भी ईश्वर करना होगा। इसमें प्रश्न यह है कि यदि ईश्वरगत ज्ञान का अनुभव हो रहा है तो उसी ईश्वरगत सर्वशक्तिमत्तादि का ज्ञान क्यों न हो? यदि कहो कि आवरक हैतो क्या है? यदि कही सर्वशक्तिमत्तादि तथा ज्ञान में भेद है तो ईश्वर में स्वगत भेद मानने की आपत्ति है।

सिद्ध - समग्र आपत्ति का सारतत्त्वतः निरास यह है कि ईश्वरगत ज्ञान को गुणरूप स्वीकार करने पर जड़त्वापत्ति सर्वथा अनवस्थित है क्योंकि जड़त्व का अवच्छेदक ज्ञानगुणवत्त्व नहीं प्रत्युत ज्ञानस्य अत्यन्ताभावः है अतः यत्र ज्ञानगुणसमवेतत्वं तत्र जड़त्वकल्पना स्ववचनव्याघातपर्यवसाया होती है और समवायासिद्धि का आक्षेप भी निष्प्रभ है क्योंकि यथा आकाशे शब्दगुणस्य आश्रयाश्रितभावपूर्वक समवायसंबन्धेन अवस्थिति निर्वह्यते तथा ईश्वरद्रव्ये ज्ञानगुणस्य समवायेनावस्थानकल्पना में कश्चिदपि विरोधो नास्ति केवलं निर्वचनानुपपत्तिवचनं निषेधहेतुत्वेन असमर्थ है। तथा “ज्ञानस्वरूप” पद का अभिप्राय तादात्म्यात्मक अभेदप्रतिपादन नहीं किन्तु स्वाभाविकज्ञातृत्वविशिष्टचैतन्यद्रव्यत्वप्रतिपादन है अर्थात् ईश्वर ऐसा चेतन द्रव्य है जिसमें जाननशक्ति तथा नित्यज्ञानगुण अनादिसिद्धरूपेण अवस्थित हैं। अतः सामान्यज्ञानस्वरूपत्वे घटादितुल्यता तथा विशेषज्ञानस्वरूपत्वे असर्वज्ञता इति यद्विकल्पद्वय प्रस्तुत किया जाता है वह उभयतः मिथ्याविकल्पमात्र है क्योंकि अस्माकं पक्षे ईश्वर न ज्ञानजातिमात्र है न कस्यचित् परिमितविशेषज्ञानरूप परिणामी पदार्थ

किन्तु नित्यसर्वविषयकज्ञानगुणविशिष्ट चेतनद्रव्य है। इसी प्रकार ईक्षणादि की आपत्ति भी अनिर्भर है क्योंकि ईश्वर में जीववत् नूतनज्ञानोत्पत्तिरूप वृत्तिविशेष का स्वीकार नहीं अपितु नित्यसर्वज्ञज्ञानस्य सृष्ट्यनुकूलप्रवृत्तिविशेष एव संकल्प इत्युच्यते अतः आगन्तुकधर्मकल्पना द्वारा एकरसस्वरूपभंग का दोष न सम्भवति। फिर ईश्वरगत ज्ञान और जीवगत ज्ञान में अभेदकल्पना भी अयुक्त है क्योंकि "ज्ञान ज्ञान" इत्यनुगतप्रतीति जातिमात्रग्रहणकारिणी है न तु व्यक्तिभेदनिरासिका यथा "द्रव्य द्रव्य" इति अनुगतबुद्ध्या घटपटयोः अभेदो न सिध्यति तथैव अत्रापि। जीवज्ञान अल्पविषयक उपाध्यवच्छिन्न क्रमवर्ती बाध्य तथा विषयविशेषनियत है किन्तु ईश्वरज्ञान नित्य सर्वविषयक अनवच्छिन्न अबाधित अखण्ड तथा सर्वज्ञताव्यापक है अतः भेदकाभाव इति कथनं निरस्तम्। और यदि ईश्वरगत ज्ञान का प्रत्यक्षानुभवाभाव लेकर ईश्वरधर्मनिरास की चेष्टा की जाए तो वह भी न चालु क्योंकि इन्द्रियागोचरानुभवाभावः कदापि वस्त्वभावव्यापक नहीं होता अन्यथा धर्म अधर्म आत्मा मनः परमाणु समवायादिकमपि सर्वं निरस्तं स्यात्। अतः सिद्धान्ततः एवमेव निश्चीयते कि ईश्वर में ज्ञान गुण है वह समवायसंबन्धेन अवस्थित है "ज्ञानस्वरूप" पद उसका स्वाभाविक चैतन्य तथा नित्यज्ञातृत्वसूचक है न तु गुणस्वरूपभेदविघातक तादात्म्यवादसूचक और इस प्रकार पूर्वपक्षोपन्यस्त जड़त्व असर्वज्ञता आगन्तुकत्व स्वरूपभंग अन्योन्याश्रय तथा स्वगतभेदादि समस्त दोष स्वत एव निरस्त हो जाते हैं।

पूर्व- हम ईश्वर के ज्ञान को अनित्य नहीं मानते क्योंकि उसे भविष्यगत सभी सम्भावनाओं का ज्ञान है। जैसा कि सत्यार्थ प्रकाश में कहा-ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है। क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल और न होके होवे वह भविष्यत्काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है? इसलिये परमेश्वर का

ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत, भविष्यत् जीवों के लिये है। (समाप्तसमुल्लासः)

ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता या न होके होता है यह तो अभी सिद्ध ही नहीं है। यदि ईश्वर को कोई ज्ञान न होके नहीं होता है तो वह त्रिकालदर्शी सिद्ध ही हुआ। सम्भावना ज्ञान पर यह कहा जा सकता है कि कौन सी सम्भवना सत्य होगी यह ज्ञान तो ईश्वर में मान नहीं सकते नहीं तो पुनः निश्चित पूर्व ज्ञान होने से त्रिकालदर्शी होने की आपत्ति है। परिशेषतः यही स्वीकारना होगा कि सम्भावनाओं की सत्यता का निश्चय उसे नहीं। अतः जब अनेको सम्भावनाओं मे से कोई एक सत्य होगी तो उसके ज्ञान में वृद्धि स्वीकारनी होगी। ज्ञान वृद्धि, ज्ञान उत्पत्ति से होगी फलतः आपको यह स्वीकार करना ही होगा कि ईश्वर में ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि ऐसा स्वीकारा जाता है तो उसके ज्ञान का क्षय भी स्वीकार ही होगा। अन्यथा उत्पत्तिमत्व अनित्यत्व का प्रयोजक नहीं रह जाएगा। इतने विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर में ज्ञान उत्पन्न होता है तथा इससे पूर्वपक्षी का "इसलिये परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्तमान रहता है।" यह कथन भी खण्डित हो गया।

सिद्ध - ईश्वर में सम्भावनाज्ञान उसके स्वाभाविक गुणनियम के अधीन ही सिद्ध होता है अतः ईश्वर जिन जिन सम्भावनाओं को जानता है उनमें पुनः विचारजन्य अन्वेषण की अपेक्षा नहीं रहती। अब पूर्वपक्ष से यह पूछा जाएगा कि यदि वह ईश्वरज्ञान में विकृति अथवा परिणाम मानता है तो स्पष्ट करे कि ईश्वर में कौन सा अपूर्वज्ञान उत्पन्न हुआ। यदि कोई

नूतनज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ तो ईश्वरज्ञान में विकृति मानना केवल अयुक्तिकल्पना और मन्दबुद्धिप्रसूत दोषारोपण है।

यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि किसी सम्भावित विषय में ईश्वर तीन सम्भावनाएँ जानता है और उन तीनों में से कौन सी सम्भावना सत्य होगी यह भी सम्भाव्यविषय होने से ईश्वर के ज्ञानगोचर में ही है तो सिद्धान्ततः यही मान्य है कि ईश्वर सम्भावनाओं को भी जानता है और उन सम्भावनाओं में से किसी एक के सत्यभावप्राप्त होने पर भी ईश्वर में न्यूनज्ञान अथवा नूतनज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। कारण कि ईश्वर का ज्ञान सम्भाव्यविषयक सामान्यज्ञान मात्र नहीं बल्कि सम्भाव्यविषय के सत्यासत्यनियमनिष्ठ विशेषज्ञान सहित है। अतः त्रिषु सम्भावनासु एकस्याः सत्यताप्राप्तौ ईश्वरज्ञान में कोई ज्ञानवृद्धि ज्ञानक्षय अथवा विकारापत्ति नहीं आती।

इसलिए पूर्वपक्ष का ईश्वरज्ञानविकारापादन असिद्धहेतुक है क्योंकि जहाँ नूतनज्ञानोत्पत्ति नहीं वहाँ ज्ञानविकारसिद्धि भी नहीं। ईश्वर का सम्भावनाज्ञान विषयपरिवर्तनाधीन नहीं अपितु स्वगुणनियमावच्छिन्न सर्वज्ञत्वाधीन है। अतः सम्भावना के सत्यरूपेण व्यवहार में आने से केवल विषय की व्यवहारावस्था बदलती है ईश्वरज्ञान का स्वरूप नहीं बदलता।

पूर्व - यह भी अनिवार्यतः विचारणीय है कि ईश्वर ज्ञान का कारण क्या है।

यदि यह कहा जाए कि ईश्वर ज्ञान का कोई कारण नहीं, तो निरविषय-ज्ञान-प्रसङ्ग उपस्थित होता है; क्योंकि कारणाभाव में ज्ञान का विषयनिष्ठत्व ही असिद्ध हो जाएगा। अतः यह पक्ष ज्ञानस्य विषयानवच्छिनत्व-दोष से दूषित है। यदि यह कहा जाए कि ईश्वर-ज्ञान में

कार्य कारण-भाव ही स्वीकार्य नहीं, तो यह कथन भी संगत नहीं। क्योंकि ऐसी स्थिति में देवदत्तादिना घट-निर्माण के पश्चात् उत्पन्न होने वाला घट-ज्ञान ईश्वर को पूर्वतः ही सिद्ध हो जाएगा, और ईश्वर का ज्ञान भविष्यकालावच्छिन्न-विषयक सिद्ध होगा, जो आपके स्वीकृत सिद्धान्त - कि ईश्वर अनागत-वस्तु का ज्ञाता नहीं के प्रतिकूल है। अतः यह पक्ष भी स्वसिद्धान्तविरोध-दोष से दूषित है।

यदि यह स्वीकार किया जाए कि ईश्वर ज्ञान का कारण है, तो यह सिद्ध हो जाता है कि ईश्वर-ज्ञान कार्य है; क्योंकि कारणत्व-निरूपितत्वं कार्यत्वव्य है। अब कार्य सिद्ध हो जाने पर उसके उपादान, निमित्त तथा साधारण क का विचार अनिवार्य हो जाता है।

यह नियम सर्वस्वीकृत है कि प्रत्येक कार्य के प्रति चेतन-निमित्त-कारण का होना आवश्यक है। लोक में घटादि कार्य के प्रति चेतन कुलाल का निमित्तत्व तथा अंकुरादि से वृक्षोत्पत्ति के प्रति ईश्वर का निमित्तत्व सर्वमान्य है। अतः आपके मत में भी निमित्तकारणत्व का अवच्छेदक चेतनत्व अवश्य स्वीकार्य होगा।

अब प्रश्न यह है कि ईश्वरीय घट-ज्ञान के प्रति निमित्त कारण कौन है। इसका उत्तर पूर्वोक्त नियमानुसार यही होगा कि ईश्वर स्वयं ही उसका निमित्त-कारण है। इस प्रकार ईश्वरीय घट-ज्ञान के प्रति निमित्तकारण ईश्वर सिद्ध होता है।

अब उपादान-कारण का विचार किया जाए। ईश्वरीय घट-ज्ञान जिस आश्रय में समवाय-सम्बन्धेन उत्पन्न होता है, वही उसका उपादान सिद्ध होगा। और चूँकि वह ज्ञान स्वयं ईश्वर में समवेत है, अतः ईश्वर ही उसका उपादान-कारण सिद्ध होता है।

सिद्ध - ईश्वर में ज्ञान गुणरूप से समवायसम्बन्ध द्वारा स्थित है। वह ज्ञान न किसी ज्ञानान्तर का कार्य है न किसी बाह्य विषय से उत्पन्न होने वाला परिणाम है और न स्वयं उत्पत्तिधर्मक कारणभावापन्न वस्तु है। हमारे सिद्धान्त में ईश्वरज्ञान को उत्पन्नज्ञान मानना ही स्वीकार नहीं है। अतः ईश्वर में ज्ञानोत्पत्ति मानकर विकारापत्ति दिखाना पूर्वपक्ष की मूल भ्रान्ति है।

यदि पूर्वपक्ष यह प्रश्न करे कि देवदत्त ने घटनिर्माण किया तब ईश्वर को यह ज्ञात हुआ कि देवदत्त ने घट बनाया इसलिए यह ज्ञान पहले न था और अब उत्पन्न हुआ तो यह कथन ठीक नहीं। कारण कि देवदत्तकृत घटनिर्माणविषयक ज्ञान ईश्वर में नूतन नहीं है और देवदत्त का व्यवहार भी सर्वथा नूतन नहीं कहा जा सकता। जीवात्मा अनादि सृष्टिक्रम में अनन्त जन्मों को प्राप्त होता है और अनेक जन्मों में देवदत्तादि नामरूपविशेष से व्यवहार करता है। अतः घटनिर्माणादि व्यवहार भी अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाह में पूर्वापररूप से घटित हो चुका व्यवहार है।

इसलिए ईश्वर का यह ज्ञान कि अमुक जीव अमुक अवस्था में अमुक प्रकार का घटनिर्माणादि कर्म करेगा अनादि से ही ईश्वर में विद्यमान है। ईश्वर का ज्ञान कालविशेषजन्य प्रतीतिवृद्धि पर आश्रित नहीं है। जो कर्म व्यवहाररूप से जगत में प्रकट होता है वह ईश्वर के लिए नूतन विषय नहीं बनता बल्कि जीव के लिए व्यवहारदशा में प्रकट होता है।

अतः देवदत्त के घटनिर्माण से ईश्वर में कोई नूतनज्ञानोत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। वहाँ केवल जीवव्यवहार की कालावच्छिन्न अभिव्यक्ति है ईश्वरज्ञान की उत्पत्ति नहीं। ईश्वर सर्वज्ञ होने से अनादि अनन्त सृष्टिक्रम में सम्भाव्य वर्तमान और भविष्यगत समस्त जीवव्यवहारों को अपने नित्य ज्ञानगुण से जानता है। अतः ईश्वरज्ञान में कार्यत्व कारणत्व उत्पत्तित्व अथवा विकारत्व की आपत्ति नहीं आती।

पूर्व - यह युक्ति भी की जा सकती है कि यदि संसार में निश्चित संख्यात्वछिन्न पदार्थों का ज्ञान है तो तदाश्रित गुणों का ज्ञान अवश्य ही होना चाहिए। अतः यहाँ से एक व्याप्ति बनाई जा सकती है कि--"यत्र यत्र गुणत्वम् तत्र ईश्वर ज्ञान विषययत्वम्" इस व्याप्ति को न मानने पर ईश्वर में असर्वज्ञापत्ति मानना होगा। यदि व्याप्ति स्वीकार की जाती है तो समस्या यह है कि ईश्वरीय ज्ञान भी गुण होने से उसे भी ईश्वर का ज्ञान विषय कहना होगा। यदि कहो कि नहीं एक ही ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाएगा तो ठीक नहीं कारण कि फिर आपको एक ही ज्ञान में कर्तृ-कर्म विरोध स्वरूप विषयीत्व तथा विषयत्व दोनों ही स्वीकारना होगा जोकि सम्भव नहीं। यदि भिन्न ज्ञान माना जाता है तो उस द्वितीय ज्ञान में भी गुणत्व रहने से उसे भी ज्ञान की विषय मानना होगा और ऐसे अनावस्था होगी।

सिद्ध - ईश्वर केवल ज्ञानगुणमात्र से ज्ञाता नहीं होता अपितु चेतनत्वावच्छिन्न ज्ञानगुण के कारण ज्ञाता सिद्ध होता है। अतः ईश्वर का ज्ञान यदि स्वयं ज्ञानविषय बने तो कोई दोष नहीं क्योंकि यहाँ ज्ञान स्वयं को नहीं जान रहा बल्कि चेतन ईश्वर ज्ञानगुण के माध्यम से अपने ज्ञान को जान रहा है। जैसे देवदत्त को यह ज्ञान होता है कि घट में घटत्व है और यह भी ज्ञान होता है कि घटत्व का ज्ञान मुझमें है वैसे ही ईश्वर में स्वज्ञानविषयक ज्ञान मानने में कोई असम्भवता नहीं।

न ज्ञानं स्वयमेव आत्मानं जानाति किन्तु चेतनः ज्ञानगुणेन स्वज्ञानं जानाति।

अतः ज्ञानस्य ज्ञानविषयत्वे न आत्माश्रयदोषः न कर्मकर्तृविरोधः।

इसलिए पूर्वपक्ष का यह दृष्टान्त कि बीज स्वयं पर ही क्रिया कर रहा है सर्वथा विषम है। सिद्धान्त में ज्ञानगुण स्वयं पर कर्म नहीं कर रहा बल्कि ईश्वर चेतनस्वरूप होकर ज्ञानगुण के द्वारा अपने ज्ञान को विषयीकृत कर रहा है। यही व्यवहार मनुष्य में भी प्रत्यक्षतः देखा जाता है इसलिए इसमें न विकारापत्ति है न असम्भवता।

पूर्व - यह भी प्रश्ननीय है कि घट-निर्माणविषयक ईश्वर-ज्ञान की कालिक विषयता क्या है-

क्या वह ज्ञान घट-निर्माणपूर्वकालावच्छिन्न है, अथवा घट-निर्माणसहकालावच्छिन्न, अथवा घट-निर्माणोत्तरकालावच्छिन?

घट-निर्माणपूर्वकालावच्छिन्न-ज्ञान-पक्ष स्वीकार्य नहीं। क्योंकि यदि ईश्वर में घट-निर्माण के पूर्व ही घट-निर्माणविषयक ज्ञान मान लिया जाए, तो ईश्वर का ज्ञान अनागत-कालावच्छिन्न-विषयता सम्बन्ध से घट-निर्माण

को ग्रहण करता हुआ सिद्ध होगा। यह आपके स्वीकृत सिद्धान्त-कि ईश्वर का ज्ञान केवल वर्तमानसत्तावच्छिन्न वस्तुओं का ही विषय है-से प्रत्यक्षतः विरुद्ध है। अतः यह पक्ष स्वसिद्धान्तविरोध-दोष से दूषित है।

घट-निर्माणसहकालावच्छिन्न-ज्ञान-पक्ष भी उपपन्न नहीं। क्योंकि इस पक्ष में

ईश्वर-ज्ञान और घट-निर्माण दोनों की सहकालिक सत्ता माननी पड़ेगी। ऐसी दशा में यह निश्चित करना असम्भव हो जाएगा कि किसमें कारणता है और किसमें कार्यता-

क्या ईश्वर-ज्ञान कारण है और घट-निर्माण कार्य, अथवा घट-निर्माण कारण है

और ईश्वर-ज्ञान कार्य। अतः यहाँ कार्य-कारणभावस्य अनिर्णय है, अर्थात् गौश्रृङ्ङ्गयोः समानन्यायेन कार्य-कारण-निश्चय का सर्वथा अभाव उपस्थित होता है। इस कारण यह पक्ष कार्य-कारणानिर्णय-दोष से ग्रस्त है। घट-निर्माणोत्तरकालावच्छिन्न-ज्ञान-पक्ष भी युक्त नहीं। क्योंकि यदि घट-निर्माण के पश्चात् ही ईश्वर को उसका ज्ञान उत्पन्न होता है, तो एक क्षण ऐसा स्वीकार करना अनिवार्य होगा जिसमें घट-निर्माणरूप कार्य की सत्ता तो वर्तमान थी, किन्तु वह ईश्वर-ज्ञान का विषय नहीं था। इससे आपका यह सिद्धान्त-कि सर्ववर्तमानवस्तु ईश्वरीय-ज्ञानविषयतावच्छिन्न है- भंग हो जाता है। अतः यह पक्ष ईश्वर सर्वज्ञत्व-विरोध-दोष से दूषित है।

निष्कर्षतः, घट-निर्माणविषयक ईश्वर-ज्ञान के काल-निर्धारण में

पूर्वकाल-पक्षः स्वसिद्धान्तविरोधात्,

सहकाल-पक्षः कार्य-कारणानिर्णयात्,

तथा उत्तरकाल-पक्षः सर्वज्ञत्वविरोधात्

अतः ईश्वर ज्ञान में काल निश्चय न हो सकने के कारण ज्ञान ही सम्भव नहीं है।

सिद्ध - यह कथन उपपन्न नहीं कि घट-निर्माणविषयक ईश्वर-ज्ञान में कालानिश्चय होने से ज्ञानासम्भवापत्ति होगी। कारण यह है कि पूर्वपक्ष ने ज्ञान-विषय का सूक्ष्म विभाग ही नहीं किया। यहाँ पहले यह निर्णय है कि ईश्वर में किस विषयक ज्ञान की चर्चा हो रही है—घट में घटत्वधर्म का ज्ञान, घट-निर्माण-क्रिया का ज्ञान, घट-निर्माता-जीव का ज्ञान, अथवा उस घट-निर्मातृत्व के कालविशेष का ज्ञान। इन सबको एक ही अवच्छेदक से अवच्छिन्न मानकर पूर्वकाल, सहकाल और उत्तरकाल की त्रिविधि में डाल देना अविवेकजन्य दोष है। घट-निर्माणपूर्वकालावच्छिन्न और घट-निर्माणसहकालावच्छिन्न—ये दोनों पक्ष अपने-अपने विषयभेद से संगत हैं, किन्तु पूर्वपक्ष का कटाक्ष निरर्थक है; क्योंकि घट-निर्माण से पूर्व भी ईश्वर में घटत्व, घट-निर्माण-सामर्थ्य, घट-निर्माता-जीव तथा सम्भावित-घट-निर्माण-सम्बन्धी ज्ञान विद्यमान है। हाँ, जो कर्म अभी यथार्थ-वर्तमान-सत्ता को प्राप्त नहीं हुआ, उसके विषय में “यह जीव अमुक क्षण में यही कर्म कर चुका है” ऐसा सिद्ध-वर्तमानरूप यथार्थ-ज्ञान स्वीकार्य नहीं; जीव जैसे-जैसे

कर्म को वर्तमान-सत्ता में लाता है, ईश्वर वैसे-वैसे उसे वर्तमानवस्तुविषयक ज्ञान से ग्रहण करता है। इससे ईश्वर-ज्ञान में न्यूनता नहीं आती, क्योंकि पूर्वकाल में सम्भाव्यतावच्छिन्न ज्ञान है और सहकाल में वर्तमानसत्तावच्छिन्न यथार्थज्ञान है। सम्भाव्य-विषयक ज्ञान और सिद्ध-वर्तमान-विषयक ज्ञान में विषयतावच्छेदक-भेद है, न कि ज्ञानविकृति। अतः इसे ईश्वर-ज्ञान की विकृति कहना मन्दबुद्धिजन्य आपत्ति है। इसी प्रकार सहकाल-पक्ष पर कार्य-कारणानिर्णय का आरोप भी असिद्ध है, क्योंकि ईश्वर-ज्ञान घट-निर्माण का लौकिक उपादानकारण अथवा प्रत्यक्ष निमित्तकारण नहीं माना जा रहा, अपितु वह सर्वविषयक प्रकाशरूप ज्ञान है। घट-निर्माण की क्रिया जीव-प्रयत्नादि कारणसमूह से सिद्ध होती है और उस क्रिया की वर्तमानता ईश्वर-ज्ञान में विषयता प्राप्त करती है। अतः ज्ञान और कर्म की सहकालिकता से परस्पर कारणत्वापत्ति नहीं आती। सम्भावित-कर्म का ज्ञान पूर्व से सम्भव है, क्योंकि सम्भावना का विषय सत्सम्बन्धी है; और वर्तमान-कर्म का ज्ञान सहकाल में यथार्थ है, क्योंकि वह वर्तमानसत्तावच्छिन्न विषयता से अवच्छिन्न है। इसलिए न स्वसिद्धान्तविरोध है, न कार्य-कारणानिर्णय है, न सर्वज्ञत्वविरोध है; दोष केवल पूर्वपक्ष की अवच्छेदकअवच्छेद्यविभागअसमर्थता में है।

पूर्व - यह भी सत्यार्थ प्रकाशकार ने कहा कि आनन्दस्वरूप, जिस में सब मुक्त जीव आनन्द को प्राप्त होते और सब धर्मात्मा जीवों को आनन्दयुक्त करता है, इससे ईश्वर का नाम आनन्द' है। (प्रथमसमुल्लास)

तथा आर्य मुनि ने भी जो कहा कि-- आनन्द उसका स्वरूपभूत होने से आत्मा कथन किया गया है (उप०नि० आर्य० पृ०६१८)

यहाँ पूछना चाहिए कि ईश्वरगत आनन्दत्व क्या (१) जाति विशेषरूप है? या (२)

अनुकूलतया वेदनीयत्व रूप है? अथवा (३) अनुकूल वेदनत्व है? या (४) अनुकूलत्वमात्र है? या (५) ज्ञानात्मकत्वरूप है? या (६) दुःखविरोधित्वरूप है?

या (७) पराङ्गीकृतरूप है? जाति विशेष रूप प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अखण्ड जी स्वरूपानन्द है। उसमें आनन्दत्व जाति मानी नहीं जा सकती है, क्योंकि एक व्यक्ति में जाति मानी नहीं जाती है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि मोक्षकाल में वेदयिता का अभाव होता है। आत्मा में वेद्यत्व न होने से अनुकूलतया वेदनीयत्व ब्रह्मानन्द में सम्भव ही नहीं होगा। किन् च, अनुकूलत्व किन्चित् सापेक्ष होता है। जैसे किसी पुरुष के प्रति कोई अन्यवस्तु अनुकूल होती है। अपने (आनन्द) से भिन्न किसी के प्रति आनन्द अनुकूल है ऐसा सिद्धान्ती मान नहीं सकते है, क्योंकि ईश्वर से अभिन्न आनन्द को मानते हैं। अतः आनन्द के प्रति आनन्द ही अनुकूल है-ऐसा कहना होगा। तब ईश्वर में भी स्वप्रतियोगिक और स्वानुयोगिक अनुकूलत्व प्राप्त होने के कारण सविशेषापत्ति होगी। अत एवं स्व के प्रति स्व का अनुकुलत्व सम्भव न होने से, अनुकूल वेदनत्व रूप तृतीय पक्ष भी नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह भी है कि वेदन (ज्ञान) स्वभाव (स्वरूप) से अतिरिक्त ज्ञानगत अनुकूलत्व स्वाभाविक है? या औपाधिक? यदि स्वाभाविक है तव ज्ञानस्वरूप आत्मा से अतिरिक्त अनुकूलत्व की आत्मा में स्वीकार करने पर आत्मा में सखण्डत्वापत्ति होगी। अनुकूलत्व को औपाधिक मानने पर कदाचित् उपाधि के न रहने पर अनुकूलत्व रूप आनन्दत्व का भी अभाव मानना पड़ेगा। अनुकूलत्व मात्र रूप पक्ष भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अनुकूलत्व को स्वाभाविक या औपाधिक मानने पर उक्त प्रकार से दोष होगा अतः एव अनुकूलत्व के असम्भव होने यह भी निरस्त हो गया। ज्ञानानंदाभेद पक्ष भी भी उचित नहीं है, क्योंकि दुःखादि ज्ञान को भी

आनन्द रूप मानने की आपत्ति होगी। यदि कहते हो कि दुःख ज्ञान में विषय (दुःख) का उल्लेख होने के कारण दुःख ज्ञान आनन्दरूप नहीं होगा क्योंकि विषय का अनुल्लेखि ज्ञान ही आनन्द रूप होता है। तो नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञान के सविषयत्व का नियम होने से विषयानुल्लेखी ज्ञान होता ही नहीं है। किस ज्ञान को ही आनन्द रूप मानने पर "विज्ञानमानन्दं ब्रह्मा" (बृ०३०३-९-२८) इत्यादि वाक्यों के विज्ञान पद से ज्ञान और ज्ञान से अभिन्न आनन्द का भी बोध होगा तब विज्ञान पद से ही दुःख की व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने पर आनन्द पद के वैयर्थ्य की आपत्ति होगी। दुःख विरोधित्व पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि विरोध का अर्थ निवर्तक करने पर दुःख के नित्यनिवृत्ति की आपत्ति होगी। यदि विरोध का अर्थ तादात्म्यायोग्यत्व करते हैं। अर्थात् दुःख के साथ जिसका तादात्म्य हो नहीं सकता। उसको आनन्द कहते हैं तब घटादि में भी आनन्दत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि घटादि के साथ दुःख का तादात्म्य होता नहीं है। दूसरी बात यह है कि आनन्द यदि दुःख विरोधी है तब "विज्ञानमानन्द ब्रह्म" (बृ०३० ३-९-२८ इत्यादि स्थल पर "आनन्दम्" इस पद से साक्षात् आनन्द कहा गया है अं अर्थात् दुःख की व्यावृत्ति कही गयी है ऐसा जो सिद्धान्ती का कथन है। वह असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि आनन्द का साक्षात् अर्थ दुःख विरोधी दुःख को व्यावृत्ति है। पराङ्गीकृत पक्ष भी नहीं माना जा सकता है, क्योंक पराङ्गीकृत निरुपाधिक अनुकूलवेदनीयत्वादि सिद्धान्ती के मत में सम्भव ही नहीं, क्योंकि आनन्द निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप माना जाता है। यदि वेद्यत्व मानते हो तो आनंद से भिन्न ईश्वर की स्थिती मानने पर स्वस्वरूप से ईश्वर में आनंदाभाव मानने की आपत्ति है। द्वितीय बात यह भी है कि स्वरूपभूत आनन्द निरविषयक हो नहीं सकता यदि सविषयक कहो तो नहीं बनेगा कारण कि सुख-दुख उभय विषय होने से दुख विशिष्ट विषयाग्रहण के लिए कोई विनिगमना नहीं है।

गंगा प्रसाद उपाध्याय ने यह जो ईश्वर में भोगतृत्व मानते हुए कहा कि---
ईश्वर में भोक्तृत्व है। जीव में भी भोक्तृत्व है, परन्तु ईश्वर 'स्वानुभूति' से आनन्दित है उसे अपने बाहर कहीं से आनन्द उधार नहीं लाना पड़ता। (मोक्ष०पु०पृ०४२)

यह तो बड़ा ही अद्भुत है। यदि ईश्वर भोगता है तो आनन्द भिन्न जड़-सुखाभाव रूप हो जाएगा। यदि एक ही मानो तो कर्तृ-कर्म विरोध स्पष्ट है। और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं।

सिद्ध - पूर्वपक्ष ने यहाँ आनन्द शब्द को सामान्य सुख के अर्थ में पकड़ लिया है, और इसी भूल से सारे आक्षेप खड़े किए हैं। ईश्वर का आनन्दस्वरूप होना यह नहीं बताता कि ईश्वर किसी वस्तु को पाकर सुखी होता है, या वह जीव की तरह किसी विषय का अनुभव करके आनन्द लेता है। ईश्वर के आनन्दस्वरूप का अर्थ है कि उसमें इच्छा, अभाव, अपूर्णता, तृष्णा और बाहरी साधन की अपेक्षा नहीं है। वह अपने स्वरूप से ही पूर्ण है।

यही सिद्धान्त इस प्रकार कहा जा सकता है कि ईश्वरगत आनन्दस्वरूपत्व न जातिरूप है, न पृथक् धर्मरूप है, न जीववत् सुखानुभूतिरूप है, और न बाह्यविषयभोगरूप है। आनन्दस्वरूपत्व का तात्पर्य है—जीवसदृश विषयापेक्षा, इच्छापेक्षा, अपूर्णतापेक्षा और बाह्यसाधनापेक्षा का सर्वथा अभाव रखते हुए अनन्तपरिपूर्णस्वरूपत्व।

गंगाप्रसाद उपाध्याय जी के कथन को भी इसी दृष्टि से समझना चाहिए। उन्होंने यह नहीं कहा कि ईश्वर बाहर के विषयों का भोग करता है। उनका आशय यह है कि ईश्वर को आनन्द के लिए अपने से भिन्न किसी वस्तु की

आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अपने स्वरूप से ही आनन्दित है। इसलिए "ईश्वर स्वानुभूति से आनन्दित है" इस वाक्य का अर्थ इन्द्रियजन्य सुखानुभूति नहीं, बल्कि ईश्वर की स्वस्वरूपसिद्ध परिपूर्णता है।

अतः यहाँ भोक्तृत्वपद का अर्थ कर्मफलभोगत्व अथवा बाह्यविषयभोगत्व नहीं है। यहाँ भोक्तृत्व का अभिप्राय स्वस्वरूपपरिपूर्णतावबोधरूप स्वभोगत्व है। ईश्वर अपने से भिन्न किसी आनन्द-पदार्थ का भोक्ता नहीं है, अपितु उसका आनन्द स्वरूपसिद्ध है। इसलिए आनन्द को ईश्वरभिन्न भोग्यवस्तु मानकर लगाया गया दोष असिद्ध है।

यदि पूर्वपक्ष कहे कि इससे कर्तृ-कर्म-विरोध आएगा, क्योंकि वही ईश्वर भोक्ता भी हुआ और वही आनन्द-भोग्य भी हुआ, तो उत्तर यह है कि यह दोष तभी आता जब आनन्द को ईश्वर से अलग किसी कर्मपदार्थ की तरह माना जाता। लेकिन यहाँ आनन्द कोई अलग भोग्य वस्तु नहीं है। यह ईश्वर की ही स्वरूपगत पूर्णता है।

पूर्व - यह जो सत्यार्थ प्रकाशकार ने कहा कि--

"सब सृष्टि को कारण से बनाने, धारने और प्रलय करने तथा सब की व्यवस्था

रखने वाला मुख्य निमित्त कारण परमात्मा।"

इससे सूचित किया कि ईश्वर केवल निमित्त मात्र है उपादान नहीं। ऐसा में यह कहा जा सकता है कि आपका ईश्वर ही निर्दोष सिद्ध नहीं होगा कारण कि सृष्टि में विषमत है और इसका कारण ईश्वर है। जो विषमकारी है यह

दोषवान् हैं' ऐसी व्याप्ति देखी जाती है, अतः जगत्कर्ता दोषयुक्तः विषमकारीकत्वात् चैत्रवत् यह अनुमान पर्यावसित होगा।

यदि यह कहा जाए कि ईश्वर करुणा के वशीभूत होकर प्राणियों को पापकर्म में प्रवृत्त नहीं करता, तथा प्राणियों के पूर्वार्जित पापों का अधिष्ठाता भी नहीं बनता, ती केवल इतने मात्र से ही प्राणियों को दुःख का अनिवार्य होना सिद्ध नहीं होता। किन्तु यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ईश्वरीय प्रेरणा के अभाव में न तो प्राणी स्वतः कर्म में प्रवृत्त हो सकते हैं, और न ही ईश्वर के अधिष्ठातृत्व के बिना पापकर्म फल प्रदान कर सकते हैं।

इसी सिद्धान्त को न्यायभाष्यकार ने स्पष्ट किया है-

"प्रत्यात्मवृत्तीत् धर्माधर्मसञ्चयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति"

(न्या.भा. पृ. १९१)

अतः यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि ईश्वर, यद्यपि स्वतन्त्र है, तथापि कर्मों के द्वारा प्रवर्तित किया जाता है। यह कल्पना प्रत्यक्षतः पृष्टविपरीत है, क्योंकि स्वतन्त्र ईश्वर का कर्म-प्रेरित होना स्वातन्त्र्य के ही विरुद्ध पड़ता है।

इतना ही नहीं, अपितु यहाँ एक गम्भीर दोष भी उपस्थित होता है। यदि यह माना जाए कि कर्म की प्रेरणा से ईश्वर प्रवृत्त होता है, तथा ईश्वर की प्रेरणा से कर्म फल-दान में प्रवृत्त होता है, तो यह स्थिति अन्योऽन्याश्रय-

दोष को अनिवार्यतः जन्म देती है क्योंकि कर्म ईश्वर-प्रेरणापेक्ष है और ईश्वर की प्रवृत्ति कर्मापेक्ष सिद्ध हो जाती है।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह तर्क बालबुद्धिकल्पित ही है क्योंकि स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में परमात्मा को सृष्टिकर्ता धर्ता प्रलयकर्ता तथा व्यवस्था-संचालक कहा है। इससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि ईश्वर जगत् का मुख्य निमित्तकारण है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर जीवों के पाप-पुण्यरूप कर्मों का भी कर्ता अथवा प्रेरक है। जगत् में जो सुख-दुःख उच्च-नीच बल-अबलादि विषमता प्रतीत होती है उसका कारण ईश्वर नहीं है किन्तु जीवकृत कर्म तथा प्रकृति की विकारशील व्यवस्था ही है। ईश्वर तो केवल तत्तत्कर्मानुसार फलप्रदाता न्यायकारी नियामक है। अतः ईश्वर में विषमकारीत्व का आरोप ही असिद्ध है। जीव स्वयं पाप-पुण्यरूप कर्मों का कर्ता है। ईश्वर जीव से चोरी हिंसा छलादि कर्म नहीं करवाता। वह केवल इतनी व्यवस्था करता है कि यथाकर्म तथा यथानियम जीव को तदनुरूप फल प्राप्त हो। अतः कर्मकर्तृत्व जीव में है और कर्मफलदानाधिकार ईश्वर में है। इन दोनों का अभेदकल्पन ही पूर्वपक्ष की मूल भ्रान्ति है। ईश्वर कर्मफल स्वेच्छाचार से नहीं देता अपितु स्वनियत न्यायस्वभाव और नियम के अनुसार देता है। इससे ईश्वर की स्वतन्त्रता बाधित नहीं होती। जैसे न्यायी राजा अपने ही स्थापित न्यायनियम के अनुसार दण्ड देता हुआ नियमदास नहीं कहलाता अपितु न्यायशासनकर्ता कहलाता है वैसे ही ईश्वर कर्मनियम से बद्ध नहीं है किन्तु कर्मनियम का नियामक है। पूर्वपक्ष की यह कल्पना भी असंगत है कि कर्म ईश्वर को प्रवृत्त करता है क्योंकि कर्म जड़ है और जड़ कर्म चेतन ईश्वर का प्रवर्तक नहीं हो सकता। कर्म केवल फलनिर्णय का आधार है प्रेरक नहीं। ईश्वर

अपनी सर्वज्ञता तथा न्यायस्वभाव से जीवकर्म को जानकर फल प्रदान करता है। ईश्वर जीव को कर्म करने की सामान्य शक्ति साधन तथा नैतिक व्यवस्था देता है परन्तु कौन सा विशेष कर्म करना है चोरी करनी है या नहीं सत्य बोलना है या नहीं हिंसा करनी है या नहीं यह जीव की स्वतन्त्र प्रवृत्ति पर निर्भर है। अतः पाप-पुण्यविशेष का चयन जीव करता है ईश्वर नहीं। जीव कर्मकरणे स्वतन्त्र है किन्तु फलभोगे ईश्वराधीन है। यदि जीव स्वयं कर्म करे और स्वयं ही फल भी निर्मित कर ले तो ईश्वर की कर्मफलव्यवस्था निरर्थक हो जाएगी। अतः सिद्धान्त स्पष्ट है कि कर्मकरणे जीवस्य स्वतन्त्रता और फलप्राप्तौ ईश्वराधीनता है। यहाँ अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं है क्योंकि ऐसा नहीं माना गया कि जीव ईश्वरप्रेरणा से ही कर्म करता है और फिर वही कर्म ईश्वर को प्रवृत्त करता है। यथार्थ स्थिति यह है कि जीव स्वतन्त्र इच्छया कर्म करता है। ईश्वर उस कर्म को जानता है

॥ ईश्वरनिरासभङ्गप्रकरणं समाप्तम् ॥

।। मंगलाचरण ।।

अविद्यारूपाभेदविचारमतावलम्बिनः वैतण्डिकवेषेण छन्ना ये वृकाः, ये महिष्याः अन्धकूपे मृत-अश्वरेतपूर्णघट प्रवेशं कृत्वा जायन्ते। भागिनेयस्य मातुलान्याम् प्रकृतित्वं भागिनेये च पुरुषत्वं निश्चित्य, स्वं च तस्य प्रसवम् अभिमन्यन्ते। ये स्वयम् आत्मानं देवतानां भगलिङ्गरूपभगनासायाः प्रसवं मन्यन्ते, तेषु च देवेषु लाञ्छनम् आरोपयन्ति—एतान् अवरान् अधमान् नीचान् पापिष्ठान् रुदनं नयति यः स एक एव रुद्ररूपः परमपिता परमात्मा, तस्मै नमः नमः पुनः पुनः प्रणमामि॥

अर्थात् :— जो अविद्या रूपी अभेद विचार के मतावलंबी-वैतंडिक भेस में छीपे भेड़िए महिषी के अंधकूप में मृत घोड़े के रेत से भरपूर बाल्टी का प्रवेश कराकर जन्म लेते हैं। जो भांजे के मामी को प्रकृति और भांजे को पुरुष मानकर स्वयं को उसका प्रसव मानते हैं। जो स्वयं को देवताओं के भग-लिंग रूपी भगनासा का प्रसव मानकर उन देवताओं पर लांछन लगाते हैं ऐसे अवर

अधम-नीच-पापीयों को रुलाने वाले उस रुद्र रूपी एक ही परमपिता परमात्मा को मैं बारंबार प्रणाम नमस्कार करता हूं।

॥ जीवाणुत्वमण्डनम् ॥

अब यहाँ से जीव के अणुत्व पर किये गये समस्त आक्षेपों का क्रमशः खण्डन आरम्भ होता है।

पूर्व - आत्मा तो अणु परिमाण कहने वाले---

१) जीव शरीर में भिन्न विभ है वा परिच्छिन्न ? (उत्तर)--

परिच्छिन्न (सत्य०प्र०सम०७)

२) जीव को अणु-एकदेशी (आर्य मुनि न्या०भा०पृ०२०)

ऐसे लोगों कि कहा जाए किजीव अणु-परिमाण नहीं हो सकता कारण कि आपसे प्रतिप्रश्न किया जाएगा कि प्रथम परिमाण का ही लक्षण प्रस्तुत कर उसे सिद्ध कीजिए अणुत्व की सिद्धि उसके पश्चात ही संभव है परन्तु परिमाण को गुण का लक्षण मानना भी स्वीकार्य नहीं क्योंकि मानादि व्यवहारकरणत्व नहीं कहा जा सकता कारण कि ईश्वर तथा अदृष्टादि में अतिव्याप्तता होने से वह व्यवहार सीमित

नहीं हो सकता यदि विषय विशेषण लगाना चाहो तो भी ठीक नहीं क्योंकि परिमाणत्व जाति में अतिव्याप्त हो जाएगा और यदि जातिमत्व विशेषण दिया जाए तो द्रव्य में अतिव्याप्त हो जाने से परिमाण का लक्षण द्रव्य में अनुपस्थित हो जाएगा देश-काल-वृत्तित्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि विभुपरिमाणत्वाछिन्न देशादि में स्वृत्तित्व न होने से अव्याप्त होगा यदि कहा जाए कि हम वृत्तित्व स्वीकार कर लेंगे तो अनावस्था का भयंकर दोष आपके सिर पर टूट पड़ेगा। परिमाण का प्रमाण भी विचारणीय है क्या हस्त-वितस्ति आदि व्यवहार, अणु-महदादि व्यवहार, असर्वगतत्व-व्यवहार, अथवा परिमितत्व-व्यवहार? सभी की अनुपपत्ति स्पष्ट है प्रथम लक्षण तो परमाणुओं में एवं विभु द्रव्य में हस्त-वितस्ति के अभाव से अव्याप्त है द्वितीय लक्षण तो अणु आदि की सिद्धि न होने से उससे घटित प्रमाण भी सम्भव नहीं तृतीय लक्षण विभुत्वाभव तथा चतुर्थ लक्षण गुरुत्वादि व्यवहार में प्रयोजन घट जाने से भिन्न मनना व्यर्थ है तथा जिस प्रकार के आश्रयविशेष में अणु-महतादि व्यवहार सिद्ध परिमाणों का समवाय माना जाता है उसी अश्रयविशेष से ही वह व्यवहार सम्भव है उसके अतिरिक्त कल्पना में गौरव नहीं है अनुमान प्रयोग के माध्यम से भी जीवादि में परिमाणाभव सिद्ध किया जा सकता है" जीवाः द्विष्ठगुणान्

समवायिकारण अनित्य विशेषगुण व्यतिरिक्त अद्विष्ठ साधारण गुणाश्रयत्वानिधकरणत्वम् अमूर्तत्वात् रूपादिवत्" इस अनुमान से जीव में परिमाण उखड़ जाता है यदि कहा जाए कि हेत्वासिद्ध है तो भी स्वीकार्य नहीं क्योंकि आत्यंताभाव प्रतियोगित्वाश्रयता जीव में

मानने पर वेदांती परिछिन्नत्वात् हेतु द्वारा आपके जीव का मिथ्यात्व सिद्ध कर दिखाएंगे अतः ऐसे भयंकर विपक्ष-बाधक से बचने के लिए उक्त मत अस्वीकृत करना ही अनिवार्य है।

सिद्ध - पहले हम परिमाण-शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याकरणसम्मत अर्थ का विचार करेंगे।

देखिए परिमाण-शब्द की व्युत्पत्ति :—

'परि' उपसर्ग + 'मा माङ् माने' धातु + 'ल्युट्' प्रत्यय = परिमाण।

'परि' उपसर्ग :—

अष्टाध्यायी-सूत्र १/४/५८ में "प्रादयः" कहा गया है। अर्थात् 'परि' उपसर्ग प्रादि-गण का अंग है। पुनः अष्टाध्यायी-सूत्र १/४/५९ "उपसर्गाः क्रियायोगे" के अनुसार क्रिया के साथ योग होने पर ये प्रादि-गणीय पद उपसर्ग-संज्ञा को प्राप्त होते हैं। अतः 'परि' उपसर्ग सिद्ध है।

'मा माङ् माने' धातु :—

पाणिनीय धातुपाठ ०४.००३७ में भगवान् पाणिनि ने 'मा माङ् माने' धातु का निर्देश किया है। धातुपाठ ०२.००५७ के प्रसङ्ग में उपसर्गार्थचन्द्रिका में 'मा' धातु के साथ 'परि' उपसर्ग के योग का विधान बताया गया है और ऋग्वेद ८/२५/१८ श्रुति के आधार पर उसकी व्याख्या भी की गई है।

'ल्युट्' प्रत्यय :—

इस प्रत्यय की व्याख्या के लिए तीन व्याकरण-सूत्र अपेक्षित हैं। अष्टाध्यायी-सूत्र ३/३/११५ में "ल्युट् च" कहा गया है; यहाँ 'ल्युट्' प्रत्यय का विधान है। अष्टाध्यायी-सूत्र ७/१/१ "युवोरनाकौ" के अनुसार प्रत्ययस्थ 'यु' अथवा 'वु' की स्थिति में आवश्यकतानुसार 'अन' और 'अक' आदेश होता है। अतः यहाँ 'ल्युट्' प्रत्यय के 'यु' का 'अन' आदेश होगा।

पुनः अष्टाध्यायी-सूत्र ८/४/२ "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" के नियमानुसार 'परि' उपसर्ग में 'र' वर्ण की सत्ता होने से अन्त्य 'न' का 'ण' आदेश हो जाता है।

अर्थात् 'परिमान' रूप 'परिमाण' हो जाता है। भगवान् पाणिनि ने उणादि-सूत्र ४/१५० में भी 'न' पद से परिमा'ण' अर्थात् 'परिमाण' रूप का निर्देश किया है।

अतः— परि + मा + ण = परिमाण

यह रूप व्याकरणतः सिद्ध हुआ।

अर्थ :—

अर्थ अत्यन्त स्पष्ट है। पाणिनीय धातुपाठ ०४.००३७ में 'मा माङ् माने' धातु का अर्थ है—नापना, तौलना, सीमा-निर्धारण करना और आकारादि की तुलना करना। उपसर्गार्थ-टीका में भी 'मा' धातु के साथ 'परि' उपसर्ग लगाकर "नापना, तौलना, परिमाण करना" यही अर्थ स्वीकार किया गया है।

अतः व्युत्पत्ति और व्याकरण—दोनों दृष्टियों से परिमाण शब्द का मुख्य आशय है—वह जिसके द्वारा अथवा जिसके विषय में मापन, तौलन, सीमा-निर्धारण और आकार-तुलना का व्यवहार सम्भव होता है।

अतः विस्तृत लक्षण — संख्यादिगुणेष्वुत्क्षेपणादिकर्मसु च असमवेतं तेषां समवायिकारणेषु समवेतं यत् तत् परिमाणम्। ऐसा परिमाण-लक्षण सिद्धान्त-पक्ष में मान्य है इसलिए पूर्वपक्ष के जितने भी आक्षेप परिमाण-लक्षण पर लगाए गए हैं वे इस पर सिद्ध नहीं होते। अतः अव्यभिचारी होने के कारण यह लक्षण सिद्ध है।

अब एक बात स्पष्ट करो—ईश्वर में अतिव्याप्ति कैसे होगी? क्या हमने कभी कहा कि ईश्वर में परिमाण नहीं होता? या पूर्वपक्ष 'अव्याप्ति' लिखना चाहता था या उसे इन दोनों में अंतर ही नहीं पता? द्रव्य के खंडन में भी पूर्वपक्ष ने 'अव्याप्ति' के स्थान पर 'अतिव्याप्ति' लिख दिया था।

और विभु में भी परिमाण का व्यवहार होता है। जैसा परिमाण का लक्षण हमने प्रस्तुत किया है उससे विभुत्व में परिमाणत्व की सिद्धि हो जाती है। इसका व्यवहार 'व्यापकता' के रूप में होता है। जैसे कहा जाता है— "आकाश व्यापक है अतः विभु है" — इसमें व्यापकता परिमाणत्व के भाव से ही प्रयुक्त हो रही है। और हम ईश्वर को विभु मानते हैं इसलिए उसमें परिमाण सिद्ध है।

ईश्वर के विभु होने की सिद्धि के लिए सिद्धान्त-पक्ष में ये प्रमाण दिए जाते हैं—

"परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्। पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥"

"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम् अचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥"

अतः पूर्वपक्ष के परिमाण पे जितने तर्क थे सबका खंडन समाप्त हुआ।

पर्व - यदि परिमाण को स्वीकार कर भी लिए जाए तो भी आत्मा के अणुत्व की सिद्धी नहीं हो सकती कारण कि जीवात्मा यदि अणु है, शरीर परिछिन्न होने से देह के एक देश में रहेगा तब पूरे शरीर में जो शैत्यादि की उपलब्धि होती है, वह क्योंकर होगी? यदि कहो कि जैसे चन्दन तेल की एक नन्हीं सी बूंद शरीर के किसी एक कोने में लगकर पूरे शरीर को सुगन्धित कर देती है, वैसे ही अणु आत्मा पूरे शरीर का साक्षी होने से त्वचा से संयुक्त है और त्वचा पूरे शरीर में व्याप्त है, अतः त्वक और आत्मा का सम्बन्ध होने के कारण त्वव्यापी शैत्य का ग्राहक आत्मा हो जाता है। तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि त्वचा की व्याप्ति से सर्वाङ्गीण वेदना मानी जाती है, तब पेर में कंटक चुभ जाने पर भी पूरे शरीर में पीड़ा होनी चाहिए किन्तु ऐसा अनुभव विरुद्ध है। महान् पदार्थ का अल्प पदार्थ के साथ जो संयोग होता है, वह संयोग अपने अल्प सम्बन्धी को ही व्याप्त करता है, महान् को' नहीं, क्योंकि आकाश का जो घट, आदि के साथ संयोग है, वह घटादि को ही व्याप्त करता है, आकाश को नहीं, अन्यथा जहाँ-जहाँ आकाश की प्रतीति होती है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र घट, करक आदि की प्रतीति होनी चाहिए, वैसी प्रतीति मानने पर घटादि को भी आकाश के समान विभु मानना होगा। अणु जीव का शरीर-व्यापी त्वचा के साथ जो संयोग है, वह भी अणु को ही व्याप्त करेगा, पूरी त्वचा को नहीं, अतः शैत्यादि की सर्वाङ्गीण अनुभूति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। एक आपत्ति यह भी है कि अणु आत्मा शरीर के एक देश में और उसका चैतम्यरूप गुण पूरे शरीर में व्याप्त हो, ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि गुणों का नियम है कि वह नियमतः द्रव्य के आश्रित रहते हैं द्रव्य से इतर उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतएव शरत्काल में जो उत्कट शीत स्पर्श अनुभूत्त होता है, वह भी अपने आश्रय द्रव्य को छोड़ कर नहीं रहता, वायु-मण्डल में बिखरे हुए हिम-कणों का ही वह शीत स्पर्श उद्धत गुण माना जाता है। उन हिम-कणों का रूप अनुभूत होने के

कारण वैसे ही उपलब्ध नहीं होता, जैसे कस्तूरी के विकीर्ण नन्हें कणों कणों का का केवल केवल गन्ध गुण उद्‌भूत होने के कारण उपलब्ध होता है, रूप और स्पर्श अनुभूत हैं, अतः अनुभूत नहीं होते ।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह तर्क खण्डित है, क्योंकि आत्मा स्वयमेव (स्वतः) किसी भी अनुभव को नहीं करती, अपितु समस्त अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से ही होते हैं।

पर्व - यदि परिमाण को स्वीकार कर भी लिए जाए तो भी आत्मा के अणुत्व की सिद्धी नहीं हो सकती कारण कि जीवात्मा यदि अणु है, शरीर परिछिन्न होने से देह के एक देश में रहेगा तब पूरे शरीर में जो शैत्यादि की उपलब्धि होती है, वह क्योंकर होगी? यदि कहो कि जैसे चन्दन तेल की एक नन्हीं सी बूंद शरीर के किसी एक कोने में लगकर पूरे शरीर को सुगन्धित कर देती है, वैसे ही अणु आत्मा पूरे शरीर का साक्षी होने से त्वचा से संयुक्त है और त्वचा पूरे शरीर में व्याप्त है, अतः त्वक और आत्मा का सम्बन्ध होने के कारण त्वव्यापी शैत्य का ग्राहक आत्मा हो जाता है। तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि यदि त्वचा की व्याप्ति से सर्वाङ्गीण वेदना मानी जाती है, तब पेर में कंटक चुभ जाने पर भी पूरे शरीर में पीड़ा होनी चाहिए किन्तु ऐसा अनुभव विरुद्ध है। महान् पदार्थ का अल्प पदार्थ के साथ जो संयोग होता है, वह संयोग अपने अल्प सम्बन्धी को ही व्याप्त करता है, महान् को' नहीं, क्योंकि आकाश का जो घट, आदि के साथ संयोग है, वह घटादि को ही व्याप्त करता है, आकाश को नहीं, अन्यथा जहाँ-जहाँ आकाश की प्रतीति होती है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र घट, करक आदि की प्रतीति होनी चाहिए, वैसी प्रतीति मानने पर घटादि को भी आकाश के समान विभु मानना होगा। अणु जीव का शरीर-व्यापी त्वचा के साथ जो संयोग है, वह भी अणु को

ही व्याप्त करेगा, पूरी त्वचा को नहीं, अतः शैत्यादि की सर्वाङ्गीण अनुभूति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं। एक आपत्ति यह भी है कि अणु आत्मा शरीर के एक देश में और उसका चैतम्यरूप गुण पूरे शरीर में व्याप्त हो, ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि गुणों का नियम है कि वह नियमतः द्रव्य के आश्रित रहते हैं द्रव्य से इतर उनकी सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतएव शरत्काल में जो उत्कट शीत स्पर्श अनुभूत्त होता है, वह भी अपने आश्रय द्रव्य को छोड़ कर नहीं रहता, वायु-मण्डल में बिखरे हुए हिम-कणों का ही वह शीत स्पर्श उद्धृत गुण माना जाता है। उन हिम-कणों का रूप अनुभूत होने के कारण वैसे ही उपलब्ध नहीं होता, जैसे कस्तूरी के विकीर्ण नन्हें कणों कणों का का केवल केवल गन्ध गुण उद्द्भूत होने के कारण उपलब्ध होता है, रूप और स्पर्श अनुभूत हैं, अतः अनुभूत नहीं होते ।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह तर्क खण्डित है क्योंकि आत्मा स्वयमेव (स्वतः) किसी भी अनुभव को नहीं करती, अपितु समस्त अनुभव इन्द्रियों के माध्यम से ही होते हैं।

पूर्व - एक आपत्ति यह भी है कि अणु आत्मा शरीर के एक देश में और उसका चैतम्यरूप गुण पूरे शरीर में व्याप्त हो, ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि गुणं नियम है कि वह नियमतः द्रव्य के आश्रित रहते हैं द्रव्य से इतर उनकी सिद्ध नहीं होती, अतएव शरत्काल में जो उत्कट शीत स्पर्श अनुभूत्त होता है, वह भी अपने आश्रय द्रव्य को छोड़ कर नहीं रहता, वायु-मण्डल में बिखरे हुए हिम-कणों का ही वह शीत स्पर्श उद्धृत गुण माना जाता है। उन हिम-कणों का रूप अनुभूत होने के कारण वैसे ही उपलब्ध नहीं होता, जैसे कस्तूरी के विकीर्ण नन्हें कणों कणों का का केवल केवल गन्ध गुण उद्द्भूत

होने के कारण उपलब्ध होता है, रूप और स्पर्श अनुभूत हैं, अतः अनुभूत नहीं होते ।

आत्मा का चैतन्यरूप गुण यदि पूरे शरीर में व्याप्त है, तब आत्मा को भी पूरे शरीर में व्याप्त मानना होगा, क्योंकि गुणी के बिना गुण नहीं रह सकता। इसमें यह अनुमान भी प्रमाण होगा--"चैतन्य स्वाश्रमन्तरा न वर्तते, गुणत्वाद् रूपवत्

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि चेतनत्व आत्मा में ही आश्रित है, और आत्मा के शरीर में स्थित होने से वह अपनी सामर्थ्य द्वारा समूचे शरीर को चेतन के अधीन करता है। जिस प्रकार शकट और वृषभ के दृष्टान्त में वृषभ एक ही स्थान पर बल का निवेश करता है, किन्तु शकट समग्र रूप से चलित होता है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर का सम्बन्ध भी समझना चाहिए।

पूर्व - दूसरी बात यह भी है कि चैतन्यत्तत्त्व जीवात्मा का गुण नहीं है क्योंकि उसकी सिद्धी नहीं हो सकती है, अपितु स्वभाव है। स्वभाव को अपने भाव पदार्थ से कभी पृथक् नहीं किया जा सकता, अतः स्वभाव व्यापक हो और उसका मूल भावतत्त्व अव्यापक हो ऐसा सम्भव नहीं, अन्यथा पदार्थ अपने स्वभाव को खो कर अपने को ही खो बैठेगा। यदि कहो चैतन्य गुण ही स्वभाव नहीं तो पूर्वोक्त दोष का समाधान आपके लिए सम्भव नहीं है। तथा यहाँ पूछा जाए कि चैतन्य गुण किस सम्बन्ध से आत्मा में रहेगा? संयोग

तो बनेगा नहीं कारण कि वह अनित्य होने से कदाचित् किसी एक काल में आत्मा को जड़ मानने कि आपत्ति है। समवाय सम्बन्ध कहो तो यह सम्वाय क्या है? इसकी ही अभी सिद्धी नहीं हुई है। यदि कहो कि अयुक्त-सिद्धत्व ही समवाय है तो यहाँ यह अयुक्त-सिद्धत्व क्या है? क्या वह अयुतसिद्धत्व अपृथग्देशत्व है? वा अपृथक्कालत्व है ? अथवा अपृथक्स्वमावत्व है? सर्वथापि वह उपपन्न नहीं होता। यदि अपृथग्देशत्व हो तो स्वसिद्धान्त से विरोध होगा, क्योंकि तन्तु में उत्पन्न हुए पट का तन्तु देश स्वीकार किया जाता है पट देश नहीं, एवं पटके शुक्लत्व आदि गुण पट देश वाले माने जाते हैं तन्तु देशवाले नहीं। वैशेषिक कहते हैं- 'द्रव्याणि०' (द्रव्य अन्य द्रव्य को आरम्भ करते हैं और गुण अन्य गुणको इस प्रकार कारण द्रव्य तन्तु कार्य द्रव्य पट को आरम्भ करते हैं और तन्तुगत शुक्ल आदि गुण कार्य द्रव्य पटमें अन्य शुक्ल आदि गुणों को आरम्भ करते हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं द्रव्य और गुण का अपृथग्देशत्व स्वीकार करने पर वह सिद्धान्त बाधित हो जायगा । यदि अपृथक्कालत्व अयुतसिद्धत्व कहो, तो गौ के वाम और दक्षिण सींग भी अयुतसिद्ध हो जायेंगे । उसी प्रकार अपृथक्स्वभावत्व आयुतसिद्धत्व हो तो द्रव्य और गुण का स्वरूप भेद असंभव है, क्योंकि वह (गुण) तो तादात्म्य से ही प्रतीयमान है। युतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध संयोग है और अयुतसिद्ध पदार्थों का सम्बन्ध समवाय, इसप्रकार उनका यह सिद्धान्त मिथ्या ही है। कारण कि कार्य से पूर्व सिद्ध कारण अयुतसिद्ध नहीं हो सकता, यदि कहो कि दोनों में से एक की अपेक्षा यह अंगीकार होगा इससे अयुतसिद्ध कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध समवाय है। तो ऐसा मानने पर भी जिसने अपना स्वरूप ही प्राप्त नहीं किया है ऐसे पूर्व सिद्ध कार्य का कारण के साथ सम्बन्ध उपपल नीं होता, क्योंकि सम्बन्ध दो के अधीन होता है। यदि कहो कि कार्य सिद्ध! कारण के साथ सम्बद्ध होता है, तो कारण सम्बन्ध से पूर्व कार्य को ◌ासाद्ध स्वीकार करने पर अयुसिद्धि

का अभाव होने से 'कार्य-कारण के संयोग और विभाग नहीं होते' यह उक्त कथन असंगत हो जायगा। और जैसे उत्पन्न मात्र उत्पद्यमान क्रिया-रहित द्रव्य का विभु आकाश आदि अन्य द्रव्यों के साथ सम्बन्ध संयोग ही स्वीकार किया जाता है समवाय नहीं, वैसे कारण द्रव्यके साथ भी सम्बन्ध संयोग ही होगा समवाय नहीं। सम्बन्धियों से भिन्न संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध के अस्तित्व में कोई भी प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि 'सम्बन्धी' इस शब्द और प्रत्यय के अतिरिक्त संयोग और समवाय शब्द और प्रतीतिके दर्शन से उनका पृथक अस्तित्व है, तो यह युक्त नहीं है, क्योंकि एक में भी स्वरूप और बाह्यरूप की अपेक्षा अनेक शब्द और प्रत्यय देखने में आते हैं। जैसे देवदत्त एक होता हुआ भी व्यवहार में स्वरूप और सम्बन्धिरूप की अपेक्षाकर मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, दाता, बालक, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पोत्र, भ्राता प्रमाता इस प्रकार अनेक शब्द और प्रत्ययों का भागी होता है। और जैसे रेखा एक होती हुई भी स्थानभेद से नियोजित हुई एक, दश, शत, सहस्र आदि शब्द और प्रत्यय विशेष के अनुभव का विषय होती है। वैसे दो सम्बन्धी ही (सम्बन्ध का अनुयोगी और प्रतियोगी) 'सम्बन्धी' शब्द और प्रत्ययके भेद से संयोग और सयवाय इन शब्द और प्रत्ययके योग्य होते हैं, किन्तु अतिरिक्त वस्तु के अस्तित्व से। इस प्रकार उपलब्धिरूप लिङ्ग से प्राप्त अन्य पदार्थस का (संयोग सम्बन्धियों से भिन्न हैं इस अनुपलब्धि से अभाव निश्चित होता है। उसी प्रकार 'सम्बन्ध' शब्द और प्रत्यय का सम्बन्धी विषय होने पर भी उसका निरन्तर अस्तित्व प्रसंग भी न होगा, क्योंकि वह स्वरूप और पररूप की अपेक्षा से है, ऐसा उत्तर कह दिया गया है। उसी प्रकार परमाणु, आत्मा और मन का प्रदेश न होने से संयोग संभव नहीं है

सिद्ध -पहली बात यह है कि पूर्वपक्ष को यह सिद्ध करना अपेक्षित है कि सिद्धान्तपक्ष में आत्मा में चैतन्य को गुण माना जाता है। बिना इसके प्रमाण के खण्डन करना निष्फल एवं व्यर्थ-प्राय प्रतीत होता है। अतः पूर्वपक्ष का समवाय-संबन्ध-विषयक पक्ष युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार का समवाय-लक्षण हम स्वीकार करते हैं, वैसा पूर्वपक्ष द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया है। हमारा लक्षण है—

इहेदमिति' यतः कार्यकारणयोः स समवायः ।

अतः इस विषय में अधिक स्पष्टता के लिए हम प्रशस्तपादभाष्य का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बन्ध इहप्रत्ययहेतुः स समवायः ।

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषाणां कार्यकारणभूतानामकार्यकारणभूतानां वाऽयु तसिद्धानामाधार्याधार भावे नावस्थितानामिहे दमिति बुद्धिर्यतो भवति, यतश्चासर्वगतानामधिगतान्यत्वानाम् अविष्वग्भावः स समवायाख्यः सम्बन्धः । कथम् ? यथेह कुण्डे दधीति प्रत्ययः सम्बन्धे सति दृष्टः, तथेह तन्तुषु पटः, इह वीरणेषु कटः, इह द्रव्ये गुणकर्मणी, इह द्रव्यगुणकर्मषु सत्ता, इह द्रव्ये द्रव्यत्वम्, इह गुणे गुणत्वम्, इह कर्मणि कर्मत्वम्, इह नित्यद्रव्येऽन्त्या विशेषा इति प्रत्ययदर्शनादस्त्येषां सम्बन्ध इति ज्ञायते ।

न चासौ संयोगः, सम्बन्धिनामयुतसिद्धत्वाद् अन्यतरकर्मादिनिमित्तासम्भवात्, विभागान्तत्वादर्शनात्, अधिकरणाधिकर्तव्ययोरेव भावादिति ।

स च द्रव्यादिभ्यः पदार्थन्तरं भाववल्लक्षणभेदात् । यथा भावस्य द्रव्यत्वादीनां स्वाधारेषु आत्मानुरूपप्रत्ययकर्तृत्वात् स्वाश्रयादिभ्यः परस्परतश्चार्थान्तरभावः, तथा समवायस्यापि पञ्चषु पदार्थेष्विहेति प्रत्ययदर्शनात् तेभ्यः पदार्थान्तरत्वमिति । न च संयोगवन्नानात्वम् । भाववल्लिङ्गाविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्च । तस्माद् भाववत् सर्वत्रैकः समवाय इति ।न, आधाराधेयनियमात् । यद्यप्येकः समवायः सर्वत्र स्वतन्त्रः तथाप्याधाराधेयनियमोऽस्ति । कथम् ? द्रव्येष्वेव द्रव्यत्वम्, गुणेष्वेव गुणत्वम्, कर्मस्वेव कर्मत्वमिति । एवमादि कस्मात् ? अन्वयव्यतिरेकदर्शनात् । इहेति समवायनिमित्तस्य ज्ञानस्यान्वयदर्शनात् सर्वत्रैकः समवाय इति गम्यते । द्रव्यत्वादिनिमित्तानां व्यतिरेकदर्शनात् प्रतिनियमो ज्ञायते यथा कुण्डदनोः संयोगैकत्वे भवत्याश्रयाश्रयिभावनियमः । तथा द्रव्यत्वादीनामपि समवायैकत्वेऽपि व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेदादाधाराधेयनियम इति ।

सम्बन्ध्यनित्यत्वेऽपि न संयोगवदनित्यत्वं भाववदकारणत्वात् । यथा प्रमाणतः कारणानुपलब्धेर्नित्यो भाव इत्युक्तम्, तथा समवायोऽपीति । न ह्यस्य किञ्चित् कारणं प्रमाणत उपलभ्यत इति ।

कया पुनर्वृत्त्या द्रव्यादिषु समवायो वर्तते ? न संयोगः सम्भवति, तस्य गुणत्वेन द्रव्याश्रितत्वात् । नापि समवायः, तस्यैकत्वात् । न चान्या वृत्तिरस्तीति ?

न, तादात्म्यात् । यथा द्रव्यगुणकर्मणां सदात्मकस्य भावस्य नान्यः सत्तायोगोऽस्ति । एवमविभागिनो वृत्यात्मकस्य समवायस्य नान्या वृत्तिरस्ति, तस्मात् स्वात्मवृत्तिः । अत एवातीन्द्रियः, सत्तादीनामिव

प्रत्यक्षेषु वृत्यभावात्, स्वात्मगतसंवेदनाभावाच्च । तस्मादिह बुद्ध्यनुमेयः समवाय इति ।।

।। इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायपदार्थः समाप्तः ॥

अर्थात् — अयुतसिद्ध आधार्यआधारभूतपदार्थों का जो सम्बन्ध यहाँ “इदं” इस प्रत्यय का कारण है, वही समवाय है।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इन कार्यकारणरूप अथवा अकार्यकारणरूप अयुतसिद्ध आधार्य–आधारभाव से स्थित पदार्थों में “यह इसमें है” इस प्रकार की जो बुद्धि होती है, और जिससे सर्वगत न होने पर भी, अधिगत अन्यत्व वाले पदार्थों का अविष्वग्भाव होता है, वही समवाय नामक सम्बन्ध है। कैसे? जैसे “यहाँ घड़े में दही है” ऐसा प्रत्यय सम्बन्ध होने पर देखा जाता है, वैसे ही “यहाँ तन्तुओं में पट है”, “यहाँ वीरणों में कट है”, “यहाँ द्रव्य में गुण और कर्म हैं”, “यहाँ द्रव्य, गुण और कर्मों में सत्ता है”, “यहाँ द्रव्य में द्रव्यत्व है”, “यहाँ गुण में गुणत्व है”

“यहाँ कर्म में कर्मत्व है”, “यहाँ नित्य द्रव्यों में अन्त्य विशेष हैं”—इन प्रत्ययों के दर्शन से ज्ञात होता है कि इनका कोई सम्बन्ध है।

और वह संयोग नहीं है, क्योंकि सम्बन्धी अयुतसिद्ध हैं; एक के कर्म आदि निमित्त का असम्भव है; विभागान्त का दर्शन नहीं होता; तथा अधिकरण और अधिकर्तव्य में ही भाव है। इसलिए वह संयोग नहीं है।

और वह द्रव्य आदि पदार्थों से भिन्न है, क्योंकि भाव के समान लक्षणभेद है। जैसे भाव द्रव्यत्व आदि का, अपने आश्रयों में, आत्मानुरूप प्रत्यय का कारण होता है, इसलिए वह अपने आश्रय आदि से तथा परस्पर भी अर्थान्तररूप है; वैसे ही समवाय का भी पाँचों पदार्थों में “यहाँ है” इस प्रकार के प्रत्यय के दर्शन से उनसे पदार्थान्तर होना सिद्ध होता है। और संयोग की तरह उसमें नानात्व भी नहीं है। भाववद् लिङ्ग की विशेषता नहीं है, और विशेष लिङ्ग का अभाव भी है। इसलिए भाव की तरह समवाय सर्वत्र एक ही है।

नहीं, आधार–आधेय का नियम होने से। यद्यपि समवाय एक होकर सर्वत्र स्वतन्त्र है, तथापि आधार–आधेय का नियम तो है ही। कैसे? द्रव्यों में ही द्रव्यत्व, गुणों में ही गुणत्व, कर्मों में ही कर्मत्व—ऐसा होता है। यह सब किस कारण से? अन्वय–व्यतिरेक के दर्शन से। “यहाँ है” इस समवाय-निमित्तक ज्ञान के अन्वय-दर्शन से सर्वत्र एक ही समवाय है—यह जाना जाता है। द्रव्यत्व आदि निमित्तों के व्यतिरेक-दर्शन से नियम ज्ञात होता है। जैसे घड़े और दही में संयोग की एकता होने पर आश्रय–आश्रयीभाव का नियम होता है, वैसे ही द्रव्यत्व आदि में भी समवाय की एकता होने पर व्यङ्ग्यव्यञ्जकशक्तिभेद के कारण आधार–आधेय का नियम है।

सम्बन्धी के अनित्य होने पर भी, संयोग की तरह इसका अनित्यत्व नहीं है, क्योंकि यह भाव की तरह अकारण है। जैसे प्रमाणों से कारण की अनुपलब्धि होने पर भाव नित्य है, ऐसा कहा गया, वैसे ही समवाय भी नित्य है। क्योंकि प्रमाणों से इसका कोई कारण उपलभ्य नहीं होता।

अब द्रव्य आदि में समवाय किस वृत्ति से वर्तता है? संयोग सम्भव नहीं है, क्योंकि वह गुण है और द्रव्याश्रित है। समवाय भी नहीं, क्योंकि वह एक है। और कोई वृत्ति है भी नहीं—तो फिर क्या?

नहीं, तादात्म्य से। जैसे द्रव्य, गुण और कर्मों में सदात्मक भाव की अन्य सत्ता-सम्बन्धी वृत्ति नहीं है, वैसे ही अविभागी और वृत्त्यात्मक समवाय की भी अन्य कोई वृत्ति नहीं है; इसलिए स्वात्मवृत्ति है। इसी कारण वह अतीन्द्रिय है, क्योंकि सत्ता आदि की तरह प्रत्यक्ष में उसकी वृत्ति का अभाव है, और अपने स्वरूपगत संवेदन का भी अभाव है। इसलिए समवाय यहाँ बुद्धि से अनुमान करने योग्य है।

।। इति प्रशस्तपादभाष्ये समवायपदार्थः समाप्तः ।।

इस प्रकार प्रशस्तपादभाष्य के बुद्धिपूर्वक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वपक्ष के समस्त तर्क स्वयं ही खण्डित हो जाते हैं।

पूर्व - और आकाश जैसे नित्य पदार्थों में अजन्य संयोग माना जाए, तो उनमें युतसिद्धि के दोनों प्रकार नहीं बनते। कारण यह है कि नित्य पदार्थों का कोई आश्रय नहीं होता, इसलिए “पृथगाश्रयाधितत्व” के रूप में युतसिद्धि नहीं हो सकती। इसी तरह आत्मा और आकाश अमूर्त और

निष्क्रिय हैं, इसलिए वे गतिमान भी नहीं हो सकते; अतः "पृथग्गतिमत्त्व" के रूप में भी युतसिद्धि नहीं बनती।

अजन्य संयोग को अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका अनुमान होता है—"आकाश आत्मा से संयोगी है, क्योंकि वह मूर्त द्रव्यों के संयोग वाला है, जैसे घट आदि।"

हालाँकि पृथगाश्रयाश्रयित्व या पृथग्गतिमत्त्व के रूप में युतसिद्धि मानने पर सिद्धान्त-विरोध का दोष नहीं आता, फिर भी "शुक्लः कम्बलः" जैसे प्रयोगों की तरह "आकाशः आत्मा" जैसा प्रयोग भी होना चाहिए। लेकिन ऐसा व्यवहार नहीं होता।

या फिर, आकाश और आत्मा में यदि वह अयुतसिद्धि मानी भी जाए, तब भी जैसे "आकाशः आत्मा" ऐसा सामानाधिकरण्य नहीं होता, वैसे ही "शुक्लः कम्बलः" जैसे वाक्यों में भी सामानाधिकरण्य नहीं होना चाहिए। तब ऐसे अयुतसिद्ध द्रव्य, गुण आदि पदार्थों में समवाय सम्बन्ध मानने पर भी केवल "शुक्लरूपसम्बद्धः कम्बलः" जैसी ही प्रतीति होगी, "तादात्म्य" की नहीं।

जब समवाय सम्बन्ध मानने का उद्देश्य ही तादात्म्य या सामानाधिकरण्य की प्रतीति को समझाना है, और वही सम्बन्ध वह प्रतीति करा ही नहीं सकता, तो ऐसी समवाय की कल्पना से क्या लाभ?

यदि कहा जाए कि "शुक्लः कम्बलः" जैसी प्रत्यक्ष सामानाधिकरण्य-प्रतीतियों में समवाय का विषय स्वयं वही प्रत्यक्ष अनुभूति है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि उस प्रत्यक्ष में सम्बन्ध नहीं, बल्कि तादात्म्य का भान होता है।

आप समवाय को प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते, बल्कि उसे अतीन्द्रिय मानते हैं। आचार्य प्रशस्तपाद भी कहते हैं—"अत एवातीन्द्रियः सत्तादीनामिव प्रत्यक्षेषु वृत्त्यभावात्।"

यदि सम्बन्ध प्रत्यक्ष में दिखाई देता, तो “भूतले घटः” की तरह “पटे शुक्लः” कहना चाहिए था, “शुक्लः पटः” नहीं।

सिद्ध - अतः प्रथममेव एतत् स्पष्टं भवति यत् नित्य-वस्तु के अस्तित्व का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि ईश्वर, जो नित्य है, उस पर आकाश का आश्रित होना मान लेने से पूर्वपक्ष का हेतु ही खण्डित हो जाता है। और गति आदि के आधारभूत तर्क भी इसी कारण स्वतः निरस्त हो जाते हैं। साथ ही, पूर्वपक्ष को यह भी अवगत नहीं प्रतीत होता कि तादात्म्य और समवाय भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं।
अथ यत्र प्रश्नः अस्ति यत् समवाय का प्रत्यक्ष होता है या नहीं, तत्र अस्माकं तर्कः एषः—समवाय भी अपने द्वारा सम्बद्ध पदार्थ का एक प्रकार का विशेषण ही है; अतः अभाव की भाँति समवाय का प्रत्यक्ष भी विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्ष से ही सम्भव होता है।
लौकिक जन “तन्तुओं में पट है”, “पटों में शुक्लता है”, “शुक्ल गौ है” इत्यादि प्रतीतियों में समवाय को प्रत्यक्षतः अनुभव करते हैं। अन्यथा “तन्तु पटवान् हैं”, “पट शुक्लगुणवान् हैं” जैसे कथन कैसे संगत हो सकते हैं? अतः यही मानना युक्तिसंगत है कि समवाय के प्रत्यक्ष-परिकलित होने से ही ऐसी प्रतीतियाँ संभव होती हैं।

आत्मा के कर्तृत्व केलिए -

"विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च" तेत्ति० २। ५ । १
जीवात्मा यज्ञादि वैदिक तथा भक्ष्य भोज्यादि लोकिक कर्मों का विस्तार करता है, इसादि वाक्यों में जीवात्मा ही कर्ममात्र का कर्त्ता कथन किया है, यदि उक्त श्रुतिव। क्यान्तर्गत "विज्ञान" पद से आत्मा का ग्रहण न

करके बुद्धि लीजाय तो उक्त पद में विभक्ति का व्यत्यय करना पड़ेगा अर्थात् विज्ञान पद के स्थान पर "विज्ञानेन" ऐसे तृतीयान्त पाठ की कल्पना करनी होगी, क्योंकि बुद्धि ज्ञान क्रिया का साधन है कर्त्ता नहीं और अनभिहितकरण में तृतीया विभक्ति होती है यह व्याकरण का नियम है परन्तु उक्त विभक्ति का परिवर्तन उपनिषत्कर्त्ता ऋषि को अभिमेत न होने से स्पष्ट है कि वैदिकसिद्धान्त में जीव के बिना बुद्धि आदि जड़ पदार्थ कदापि कर्त्ता नहीं होसक्ते, हाँ जीव के साथ सम्बन्ध होने तथा उसकेप्रयत्न द्वारा २ व्यापार में प्रवृत्त होने से उनके औपचारिक कर्ता होने में कोई बाधा नहीं। इससे कर्तृत्व सिद्ध हुआ

अतः पूर्वपक्ष खण्डित हुआ।

पूर्व - किं आप प्रशस्तपादाचार्य को नहीं मानते? क्योंकि उन्होंने समवाय के प्रत्यक्ष को स्वीकार नहीं किया, और ईश्वर का उदाहरण देना भी उचित नहीं है, क्योंकि हम ईश्वर को नहीं मानते।

सिद्ध -देखिए, पूर्वपक्ष-महोदय, स्वामी दयानन्द ने जिस प्रशस्तपाद-भाष्य को प्रमाण-रूपेण स्वीकार किया है, वह आज के समय में उपलब्ध नहीं है। उसकी जगह जो 'पदार्थधर्मसंग्रह' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है, उसे बहुत-से लोग प्रशस्तपादाचार्य का भाष्य मानते हैं; और अनेक इतिहासकार एवं आचार्य भी ऐसा ही स्वीकार करते हैं। अतः इसमें हमारी कोई भूल नहीं है। रही बात ईश्वर-सिद्धि की, तो हम ईश्वर-निराकरण करके पहले ही उसका खण्डन कर चुके हैं; इसलिए पुनः उसकी सिद्धि की आवश्यकता नहीं है।

जीवाणुत्वमण्डनम् समाप्तम् ।

॥जीवकर्तृत्वविचार:॥

पूर्व - जीव में कर्तृत्वादि गुण भी बनते नहीं कारण कि आत्मा विकारी होने से अनित्यत्व का प्रसंग होगा। नित्यवस्तु को अनित्य धर्मों की आश्रयता होना संभव नहीं है, क्योंकि धर्म और धर्मी का अभेद होने के कारण उनका और कोई सम्बन्ध नहीं बन सकता तथा साक्ष्य साक्षी का धर्म भी नहीं हो सकता।

सिद्ध - प्रश्न देखकर प्रथमदृष्ट्या ही स्पष्ट हो जाता है कि पूर्वपक्ष को सिद्धान्तपक्ष की यथार्थ जानकारी नहीं है केवल तर्काभास और अनुमान के आधार पर कुछ भी कहा जा रहा है। क्योंकि हमने कभी भी यह स्वीकार नहीं किया कि जीव स्वयं स्थूल क्रियारूप कर्ता है।
अपितु हमारा सिद्धान्त यह है कि जीव का कर्तृत्व संकल्प, इच्छा, प्रेरणा और प्रयत्नरूप है। जीव स्वयं जड़ शरीर की भाँति प्रत्यक्ष क्रिया नहीं करता, बल्कि अपनी संकल्पशक्ति से शरीर, इन्द्रियों तथा अन्य जड़ साधनों को प्रवर्तित करता है। यथा—
"यथा राजा स्वसंकल्पमात्रेण सेनां रथगजान् च प्रवर्तयति, स्वयं सर्वक्रियां न करोति; तथा चेतनः स्वेच्छया जडसाधनानि प्रवर्तयति।"
अतः जीव का कर्तृत्व प्रेरकत्वरूप है न कि जड़ पदार्थों के समान प्रत्यक्ष क्रियारूप। इसलिए पूर्वपक्ष द्वारा उठाए गए प्रश्न हमारे सिद्धान्त पर घटित ही नहीं होते, क्योंकि वे एक कल्पित कर्तृत्व को आधार बनाकर तर्क कर रहे हैं।

पूर्व - विवेकानन्द परिव्राजक ने यह जो एक अनुमान बनाया कि --

(1) प्रतिज्ञा जीवात्मा की सत्ता ईश्वर से भिन्न है।

(2) हेतु जीवात्मा संसार का भोक्ता होने से।

[व्याप्ति (साधर्म्य से) जो-जो संसार का भोक्ता होता है, वह वह ईश्वर से भिन्न होता है।।]

(3) उदाहरण-जैसे मनुष्य भूख मिटाने के लिये भोजन को खाता है (अर्थात् भोजन का भोक्ता है।)

(4) उपनय मनुष्य के समान प्रत्येक जीवात्मा संसार का भोक्ता है। (ईश्वर में कुछ भी कमी नहीं है, वह कुछ भी नहीं भोगता।)

(5) निगमन इसलिये जीवात्मा संसार का भोक्ता होने से, जीवात्मा की सत्ता ईश्वर से भिन्न है। (सत्य०खोज०पृ-७१)

जीवात्मा में कर्तृत्वादि की ही सिद्धी नहीं हो सकती इसका विस्तार पूर्वक निरूपण पूर्व में कर दिया गया है अतः हेतु असिद्ध है। और भी कि सांख्य-वेदांत आदि मतों से हेतु पक्ष में न रहने से स्वरूपासिद्धी है। एक अन्य बात यह भी है कि जीवत्वाछिन्न सकल जीव जब पक्ष में रख लिए तो उससे अन्य दृष्टांत ही नहीं मिल सकता है। अतः दृष्टांत वैकल्यता भी है। जीव की ईश्वर से भिन्न सिद्ध करने वाले सभी सामान्य अनुमानों का खण्डन इसी प्रकार से कर लेना चाहिए।

सिद्ध - पूर्वपक्षी मूर्ख है अथवा मूर्खतायाः अभिनय कर रहा है यह कहना कठिन है किन्तु इतना अवश्य स्पष्ट है कि ऐसा तर्क अत्यन्त अविवेचित एवं तर्कशास्त्रविरुद्ध प्रतीत होता है।
प्रथमं पूर्वपक्ष द्वारा कर्तृत्व विषयक जो आपत्ति प्रस्तुत की गई थी उसका निरोध पूर्वमेव हो चुका है। वेदान्ते अपि "कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्" इत्यादि सिद्धान्तों द्वारा जीव का कर्तृत्व स्वीकार किया गया है। अतः सिद्धान्तपक्ष में जीव को प्रसङ्गभेदेन कर्ता एवं अकर्ता उभयरूपेण व्यवहृत किया जाता है। सांख्ये तु अधिष्ठाता सिद्धान्तः स्पष्टतया प्रसिद्ध एव है। किन्तु पूर्वपक्ष अल्पपरिज्ञानवश उन सामान्यतया प्रसिद्ध सिद्धान्तों के लिए भी प्रमाण माँगकर केवल व्यर्थ वितण्डा कर रहा है।
और "सकल जीव होने से भोगत्व का उदाहरण नहीं दिया जा सकता" यह किस प्रकार का न्याय है। ऐसा कथन सुनकर तो यही प्रतीत होता है कि पूर्वपक्ष ने न्यायशास्त्र का व्यवस्थित अध्ययन भी नहीं किया।

॥इति जीवकर्तृत्वविचारः समाप्तः।।

॥परमाणुवादसमीक्षा॥

पूर्व - दो परमाणु परस्पर संयुक्त होकर एक द्व्यणुक और तीन द्व्यणुक संयुक्त होकर एक त्र्यणुक आरम्भ करते हैं। वहाँ निरवयव-भूत दो परमाणुओं का संयोग दोनों परमाणुओं एवं एक परमाणु का अपनी प्राची, उदिची आदि देश तथा ऊपर और नीचे की छहों दिशाओं में विद्यमान छः परमाणुओं के साथ संयोग सभी परमाणुओं को व्याप्त करेगा। व्याप्त किए बिना संयोग सम्भव नहीं, क्योंकि व्याप्त न करने का अर्थ है सम्बन्धित न होना और संयुक्त होने का

दोनों विरुद्ध घटनाएँ एक साथ घटित नहीं हो सकतीं। विभिन्न देशों (छः दिशाओं) में विद्यमान परमाणुओं से संयुक्त परमाणु के छः अवयव मानने होंगे।

इस सावयवत्वापत्ति से बचने के लिए यह मानना होगा कि

द्व्यणुक-निर्माणार्थ जिन दो परमाणुओं एवं त्र्यणुक-रचनार्थ जिन छः परमाणुओं या तीन द्व्यणुकों का संयोग माना जाता है, वे सभी परमाणु एक ही देश में विद्यमान हैं। तब द्व्यणुक और व्यणुकादि सभी पिण्ड अणु परिमाण के ही रहेंगे. उनका मध्यम या महत्परिमाण न हो सकेगा इस प्रकार आपके पक्ष में परमाणु को सावय मानना सम्भव नहीं, निरवयव परमाणु का समग्रतया संयोग मानने पर प्रथम (महत्परिमाण) उपपन्न नहीं होती और

अवयवशः संयोग मानने पर सावयवत्वापत्तिरूप सघन दोष प्रसक्त होता है। अनन्त अवयव-परम्परा मानने पर सुमेरु पर्वत और सरसों के एक दाने का समान परिमाण का प्रसङ्ग दिखाया जा चुका है।

दूसरी बात यह भी है कि "परमाणूना परिच्छिन्नत्वात्" । परमाणुओं में सावयवत्व के साधक उदाहरणादि तीन अंग इस प्रकार हैं- (१) ये परिच्छिन्नास्ते सावयवाः, यथा घटादयः । (२) तथा च परमाणवः । (२) तस्मात् सावयवाः । परमाणुओं को यदि अपरिच्छिन्न (देश-कालादि परिच्छेद से रहित) माना जाता है, तब उनमें वैसे ही परमाणुत्व परिमाण न रह सकेगा, जैसे आकाश इत्यादि अनुमानों से परमाणुओं में ठीक नहीं कारण कि आत्मा के परिछिन्नता के विरुद्ध अनेकों बाधक तर्कों का उद्भावना पूर्व में ही किया जा चुका है अतः हेतु का कहीं भी व्याभिचार नहीं है।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह समस्त प्रपञ्च मूलतः एक ही भ्रान्ति पर आश्रित है कि उसने संयोग को व्याप्ति के तुल्य समझ लिया और फिर व्याप्ति के अभाव से सावयवत्व का अनिवार्य निष्कर्ष खींच लिया जबकि वैशेषिक सिद्धान्त में संयोग कोई सर्वदेशव्यापी अन्तर्भेदन नहीं अपितु द्रव्यों के बीच उत्पन्न होने वाला एक तात्त्विक सम्बन्धविशेष है जिसके लिए अवयवों का परस्पर व्याप्त होना कदापि आवश्यक नहीं क्योंकि सम्बन्ध और अवयवता समानार्थक नहीं हैं और न ही एक का अभाव दूसरे के अभाव का साधक है इसी प्रकार यह कहना कि यदि परमाणु ऊपर नीचे पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं में अन्य परमाणुओं से संयुक्त हों तो उनमें अवयव मानने पड़ेंगे

सर्वथा असंगत है क्योंकि दिशा-भेद अवयवयुक्त स्थूल द्रव्यों में ही कल्पनीय है निरवयव परमाणु में पूर्वभाग पश्चिमभाग आदि का विभाग ही नहीं अतः भिन्न-भिन्न देशसम्बन्ध से उत्पन्न संयोग को अवयवकल्पना में परिवर्तित करना स्थूल बुद्धि का सूक्ष्म तत्त्व पर आरोपमात्र है पुनश्च यदि परमाणु एकदेशीय कहे जाएँ तो महत्परिमाण न बने यह आपत्ति भी अयुक्त है क्योंकि वैशेषिक में महत्त्व का कारण परमाणुओं के भीतर निहित अवयव नहीं अपितु द्वयणुक त्र्यणुकादि संघातों की क्रमवृद्धि और नवीन कार्यद्रव्य की उत्पत्ति है अतः निरवयव द्रव्य से विस्तार का उद्भव असम्भव नहीं होता और यदि "परिच्छिन्नत्वात् सावयवाः" यह अनुमान दिया जाए तो वहाँ भी व्याप्ति सिद्ध नहीं क्योंकि परिच्छिन्नता और सावयवत्व में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं परिच्छिन्न होना सीमाबद्ध होना है और सावयव होना आन्तरिक विभाग से युक्त होना है इन दोनों में व्याप्ति न होने से अनुमान खण्डित हो जाता है इसीलिए पूर्वपक्ष का निस्सार निष्कर्ष यह है कि उसने संयोग को व्याप्ति मान लिया परिच्छिन्नता को सावयवत्व समझ लिया और स्थूल द्रव्य के व्यवहार को निरवयव परमाणु पर आरोपित कर दिया जबकि वस्तुस्थिति यह है कि परमाणु निरवयव होते हुए भी परिमित हैं संयोगसम्बन्ध से द्वयणुकादि की उत्पत्ति कर सकते हैं और उन्हीं संघातों से क्रमशः स्थूल जगत् की सिद्धि होती है अतः परमाणु के निरवयवत्व पर सावयवत्व की आपत्ति न संयोग से सिद्ध होती है न परिच्छिन्नत्व से न महत्परिमाणोत्पत्ति की असमर्थता से इसलिए वैशेषिक पक्ष यहाँ पूर्णतया निर्विघ्न और दार्शनिक दृष्टि से अधिक सुदृढ़ सिद्ध होता है।

पूर्व - अवयवशः क्रमशः विभज्यमान सावयव द्रव्यों के जहाँ से आगे विभाग की निवृत्ति हो जाती है, ऐसे द्रव्यों को वैशेषिक जिस रूप से परमाणु

स्वीकार करते हैं, उनका वह स्वीकार सर्वथा निरालम्ब एवं निराधार है। कारण यह कि वे परमाणुओं को रूपादि-विशिष्ट मानते हुए भी उन्हें अणु और नित्य कहते हैं, जबकि रूपादि-विशिष्टत्व स्वयं ही अणुत्व तथा नित्यत्व के विपरीत स्थूलत्व और अनित्यत्व का अवच्छेदक हो जाता है। अतः जिस परमाणु को वे परमकारणत्वाभिप्रेत करके स्वीकार करते हैं, उसी में उनके अभिप्रेत के विपरीत धर्मों की प्रसक्ति अनिवार्य रूप से घटित होती है।

क्योंकि लोक में यह अवश्य देखा जाता है कि जो भी वस्तु रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों से अवच्छिन है, वह अपने कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य ही पायी जाती है। पट तन्तुओं की अपेक्षा स्थूल और अनित्य है; तन्तु अपने अवयवों की अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं। इसी क्रम में यदि परमाणु भी रूपादि-विशिष्ट माने जाते हैं, तो वे भी किसी न किसी कारण से अवच्छिन्न ही होंगे और उस कारण की अपेक्षा स्थूलत्व तथा अनित्यत्व से युक्त होंगे। यहाँ यह कहना कि परमाणु स्वयं कारणरहित हैं, केवल अभिप्राय-मात्र है, न कि सिद्धान्ततः स्थापित तथ्य।

वैशेषिकों द्वारा परमाणु के नित्यत्व के समर्थन में दिया गया 'सत् तथा अकारणवत्त्वात् नित्यम् [सदकारणवन्नित्यम्" (वै. सू. ४।१।१)] इस सूत्र में 'सत्' पद प्रागभाव से परमाणु को व्यावृत्त करता है और 'अकारणवत्' यह पद घटादि से। अर्थात् जो पदार्थ प्रागभावादिरूप अभाव पदार्थों से भिन्न भावात्मक एवं घटादि के समान सकारण न होकर अकारणक होता है, वह नित्य होता है, जैसे- आत्मा। इसमें प्रथम तो यह कि परमाणु में अकारणता

तो अभी साध्य की में है। वेदांतादि मतों से परमाणु में अकारणत्व हेतु न रहने से व्यभिचार भी है। यह इस कारण भी यहाँ अनुपपन्न हो जाता है। क्योंकि यदि परमाणु रूपादि-विशिष्ट हैं, तो स्पर्शवत्त्व, परिच्छिन्नत्व आदि के कारण वे कारणवत्त्व से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकते। और जहाँ कारणवत्त्व की सम्भावना है, वहाँ अकारणवत्त्व के अवच्छेद से नित्यत्व की सिद्धि असम्भव है। अतः उक्त हेतु स्वयं अपने को सुरक्षित नहीं रख पाता।

पूर्व - यह पूर्वपक्ष विचार करने पर सर्वथा सुदृढ़ नहीं सिद्ध होता क्योंकि इसमें हेत्वाभास और अव्याप्ति दोनों का प्रवेश है। रूपादि-विशिष्टत्व से परमाणु में स्थूलत्व और अनित्यत्व की अनिवार्य सिद्धि नहीं होती क्योंकि गुणविशेष्यता और सावयवत्व एकार्थक नहीं हैं तथा जो तन्तु पट घटादि स्थूल अनित्य द्रव्य हैं उनके विषय में जो नियम देखा जाता है वह केवल सावयव तथा उत्पाद्य द्रव्यों तक सीमित है निरवयव परमाणु तक उसका प्रसार नहीं किया जा सकता। वैशेषिकमत में परमाणु अवयवरहित सूक्ष्म नित्य और अनुत्पन्न द्रव्य माना गया है अतः उनमें विभाग की प्रवृत्ति न होने से स्थूलत्व का आरोप असंगत है और अकारणवत्त्व का अभिप्राय भी यहाँ सर्वथा कारणशून्यता नहीं किंतु उत्पादक उपादानकारण से रहित नित्यता है इसीलिए परमाणु को कार्योत्पत्तिकारण मानना और स्वयं उन्हें उत्पाद्य सिद्ध करना परस्पर विरुद्ध नहीं है। जो वस्तु गुणवान् हो वह अवश्य अनित्य हो यह व्याप्ति असिद्ध है अन्यथा नित्य आत्मादि द्रव्यों में भी अनित्यत्व का प्रसंग आ पड़ेगा जो स्वपक्षविरोधी होगा अतः रूपादि-विशिष्ट होने से परमाणु अनिवार्यतः स्थूल और अनित्य हैं यह निष्कर्ष न तो साधक है न न्यायसंगत प्रत्युत केवल असिद्ध हेतु अव्याप्त दृष्टान्त और

सिद्धान्तानवबोध पर आश्रित है इसलिए वैशेषिक परमाणुसिद्धान्त पर यह आक्षेप अप्रतिष्ठित रहता है।

पूर्व - इसी प्रकार 'अनित्यमिति च' अर्थात् अनित्यत्व का विशेष निषेध न होना यह जो दूसरा कारण परमाणु के नित्यत्व के लिए दिया गया है, वह भी नित्यत्व को स्थापित करने में असमर्थ है। क्योंकि किसी वस्तु के नित्य न होने पर ही 'अनित्य' शब्द का प्रयोग सम्भव है, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है। अतः केवल शब्द-व्यवहार से नित्यत्व की अपेक्षा करना प्रमाणसिद्ध नहीं है। शब्द और अर्थ की प्रसिद्धि स्वतंत्र नहीं, अपितु अन्य प्रमाणसिद्ध अर्थों के आधार पर ही शब्द-व्यवहार किया जाता है। आपकी व इस युक्ति का निरास करने के लिए यह भी कहा जा सकता है कि घटादि में निषिध्यमान नित्यता आत्मा में भी मानी जा सकती है, परमाणु में ही नित्यत्व मानना आवश्यक नहीं। घटादिरूप कार्य पदार्थों में अनित्यत्व का व्यपदेश परमाण्वादिरूप कारण पदार्थों में केवल प्रतीयमान नित्यत्व के अभाव पर निर्भर है। यदि वह नित्यत्व वहाँ प्रमाण-सिद्ध नहीं, तब उक्त व्यवहार वैसे ही निर्मूल हो सकता है, जैसे वट वृक्ष पर यक्षादि न होने पर भी 'इह वटे यक्षः ऐसा व्यवहार ।

और जो 'अविद्या च' यह तीसरा कारण परमाणु के नित्यत्व के लिए प्रस्तुत किया गया है, वह भी विविध प्रकार से दोषग्रस्त है। यदि अविद्या का यह अर्थ किया जाय कि जिन कारणों के कार्य प्रत्यक्ष में उपलब्ध हैं, उन कारणों का प्रत्यक्ष से अग्रहण अविद्या है, तो उसी अर्थ से दृद्व्यणुक आदि भी नित्य हो जायेंगे, क्योंकि वहाँ भी कारण का प्रत्यक्ष अभाव पाया जाता है। यदि

कहा जाय कि 'अद्रव्यत्वे सति' अथवा 'अकारणवत्त्वे सति' कारण का अग्रहण अविद्या है, तो अकारणवत्त्व स्वयं नित्यत्व का निमित्त बन जायेगा, और तब 'अविद्या च' यह कथन पुनरुक्त मात्र रह जायेगा, क्योंकि वही कारण पूर्व में कह दिया गया है।

सिद्ध - गहन पुनर्विचार के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि यदि “अनित्यमिति च” को केवल शब्दाभाव या शब्द-व्यवहार के स्तर पर लिया जाए तो आपका आक्षेप बहुत कुछ बलवान् हो जाता है; परन्तु न्याय-वैशेषिक की सम्यक् व्याख्या में यह हेतु केवल भाषिक मौन नहीं, अपितु अनित्यत्व-लक्षणों के अभाव पर आधारित है। अनित्य वस्तु के प्रमुख लक्षण हैं उत्पत्ति, अवयवता, विभागयोग्यता और विनाशयोग्यता; परमाणु के विषय में इनका अभाव प्रतिपादित किया जाता है, इसलिए “अनित्यमिति च” का आशय यह नहीं कि “अनित्य” शब्द नहीं बोला गया, बल्कि यह कि परमाणु पर अनित्यत्व के कारणभूत लक्षण नहीं घटते। आत्मा का उदाहरण यहाँ बाधक नहीं, क्योंकि आत्मा की नित्यता अन्य प्रमाणों से सिद्ध है; किसी अन्य नित्य द्रव्य का स्वीकार परमाणु की नित्यता का निषेध नहीं करता, प्रत्युत यह बताता है कि नित्यता एक सामान्य द्रव्यधर्म है, न कि केवल एक ही पद का विशेष धर्म। जहाँ तक “अविद्या च” का प्रश्न है, वहाँ भी यदि उसे केवल “कारण का प्रत्यक्ष-अग्रहण” मान लिया जाए तो वह अवश्य दुर्बल हो जाता है; किन्तु वैशेषिक-सिद्धान्त में इसका अभिप्राय सामान्य अज्ञान नहीं, अपितु परमाणु के विनाशक विशेष कारणों का अभाव है। घटादि का नाश अवयव-विभाग और संयोग-भङ्ग से होता है, किन्तु परमाणु निरवयव होने से उसमें अवयव-विभाग का प्रसंग ही नहीं, और जिस प्रकार संयोग से घटादि का निर्माण होता है उसी प्रकार परमाणु के विनाश

का कोई स्वीकृत कारण नहीं बताया जाता; अतः “अविद्या” यहाँ विनाश-हेतु-राहित्य का द्योतक है, न कि केवल प्रत्यक्ष-अभाव का। इसलिए आपका खण्डन मूलतः इस कारण अप्रत्याशित नहीं है कि वह पूर्णतः असंगत है, अपितु इस कारण कि वह “अनित्यमिति च” और “अविद्या च” को वैशेषिक की दार्शनिक भाषा से अलग करके केवल बाह्य शब्दार्थ में बाँध देता है। शुद्ध तर्क यह है कि यदि परमाणु में नित्यता-विरोधी लक्षण सिद्ध नहीं होते और उनके विनाशक हेतु भी न उपलब्ध हों, तो नित्यत्व का अनुमान उपपन्न है; अतः यह दोनों कारण, सही अर्थ में लिए जाने पर, परमाणु-नित्यत्व के विरुद्ध नहीं, प्रत्युत उसी के पक्ष में स्थित होते हैं।

पूर्व - दूसरी बात यह भी है कि परमाणुगत बहुत्वसंख्या से ही महत्त्व का आरम्भ जब कि सम्भव है, तब द्वयणुक को त्र्यणुकादि का आरम्भक मानना व्यर्थ ही है। यदि कहे कि परमाणुओं से ही आरम्भ मानने पर ज्यणुक में महत्त्व नहीं आ सकेगा, क्योकि परमाणु-परिमाण नित्य होने के कारण उसका आरम्भक नहीं हो सकता और निरवयव परमाणुओ में प्रचय (अवयवो का शिथिल सयोग) की तो आशङ्का भी नहीं कर सकते । तो यह कहना युक्त नही, क्योकि परमाणुगत बहुत्व संख्या से ही व्यणुक में महत्त्व उत्पन्न हो आयगा। 'परमाणुगत बहुत्वसख्या आरम्भक नहीं'- यह मानने पर परमाणुगत द्वित्व संख्या में भी इथणुक-परिमाण-आरम्भकत्व न रहेगा। यदि कहें कि परमाणुओ से ही आरम्भ मानने पर घटादि के नष्ट होने के बाद कपालादि का दर्शन नहीं होनी चाहिए, क्योकि परमाणु अदृश्य होते है। तो यह नहीं कह सक्ते, क्योकि अवयवी को द्वयणुक से जन्य मानने पर भी तो यह आपत्ति बनी ही रहती है। यदि कहें कि द्वथणुक से ज्यणुक, व्यणुक से चतुरणुक इस प्रकार आरम्भ मानने पर वह आपत्ति नहीं रहती।

तब भी चार द्वयणुको से चतुरणुक के समान सहन द्वयणुको से आरब्ध कार्य का नाश हो जाने पर वह आपत्ति बनी ही है। अत. ह्यणुक के सद्भाव में भी कोई भी प्रमाण नही।

और भी, सत्कार्यवाद मानने वाले भला परमाणुओं का संयोग कैसे मानते हैं? घटा मृत्तिका के सकल अवयवों में रहता है? या एक? प्रथम में यत्-किंचित् से अनंत घट, द्वितीय में घटाभाव का प्रसंग है। परमाणुओं का संयोग से अव्यक्त घट व्यक्त परमाणुओं का नाश स्वीकारे बिना सत्कार्यवाद सम्भव नहीं। इससे और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं।

सिद्ध - यह खंडन निर्णायक नहीं है क्योंकि इसका आधार ही दो गलत मान्यताओं पर टिका है पहली यह कि यदि बहुत-से परमाणुओं के योग से महत्त्व उत्पन्न हो सकता है तो द्वयणुक आदि मध्यवर्ती एकाइयों की कोई आवश्यकता नहीं रहती दूसरी यह कि कारण में कार्य का अव्यक्त रूप से विद्यमान होना असंगत है। पहली बात ठीक नहीं क्योंकि महत्त्व केवल "परमाणु की संख्या" से नहीं बल्कि संख्या सन्निवेश सन्निकर्ष और संघात-क्रम से उत्पन्न होता है। द्वयणुक को इसलिए माना जाता है कि वह परमाणु और स्थूल अवयवी के बीच का प्रथम संगठित स्तर है यह अनावश्यक पुनरुक्ति नहीं बल्कि क्रमिक संयोजन की तर्कसंगत कड़ी है। "यदि बहुत-से परमाणु सीधे महत्त्व दे सकते हैं तो द्वयणुक व्यर्थ है" यह निष्कर्ष नहीं निकलता क्योंकि अनेक कारणों से किसी कार्य का होना यह नहीं सिद्ध करता कि बीच के स्तर असिद्ध हैं जैसे अनेक कणों से ढेर बनता

है फिर भी ढेर बनने की एक नियमित संरचना होती है। दूसरी आपत्ति भी बनती नहीं क्योंकि घट के नष्ट होने के बाद कपालादि का दिखना परमाणुओं के दिखने पर निर्भर नहीं है बल्कि उस स्थूल संघात के टूटने पर निर्भर है जो पहले दृष्टिगोचर था परमाणु अदृश्य हों तब भी उनसे बने संघात दृश्य हो सकते हैं। और यह कहना कि “घट मिट्टी के सब भागों में है या एक भाग में” यह एक झूठा विकल्प है क्योंकि सत्कार्यवाद में कार्य की सत्ता स्थानिक रूप से किसी एक कोने में बैठी हुई नहीं मानी जाती बल्कि कारण-समष्टि में अव्यक्त सामर्थ्य के रूप में मानी जाती है जैसे बीज में वृक्ष व्यक्त रूप से नहीं पर शक्तिरूप से होता है। इसलिए “अव्यक्त से व्यक्त नहीं बन सकता” “द्व्यणुक अनावश्यक है” और “संयोग से कार्य नहीं बन सकता” ये तीनों आपत्तियाँ तर्कतः टिकती नहीं हैं।

॥इति परमाणुवादे सर्वाक्षेपाणां खण्डनं समाप्तम्॥

॥शब्दलक्षणनिर्णयः॥

पूर्व - अब अंत में युक्तियों के आधार पर सकल दर्शन को समाप्त कर दोने के पश्चात शब्द प्रमाण को भी खण्डित किया जाता है। उसका कारण यह है कि आर्य-समाजी जिस लक्षण को शब्द प्रमाण के रूप में रखकर आचार्यों को छोड़ ऋषि मात्र को ही प्रमाण मानते हैं वह उचित नहीं है अतः उसके निराकारण के लिए ही शब्द के मात्र एक मूल सूत्रस्थत लक्षण का ही खण्डन किया जाता है।

न्यायसूत्रकार ने कहा है- "आप्तोपदेशः शब्दः (न्या. सू. १।१।७)।

भाष्यकार 'आप्तता' की परिभाषा करते हैं- "आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा" (न्या. भा. पृ. २६७) । यद्यपि स्वर्ग, अदृष्ट और देवतादि का साक्षात्करण साधारण व्यक्तियों को नहीं होता, तथापि सर्वज्ञ ईश्वर को तो होता ही है-"न ब्रूमोऽस्मदादीना प्रत्यक्षाः स्वर्गादयः, अपितु यस्य प्रत्यक्षाः, तस्योपदेशः" (न्या. वा. पृ. ३८७)] ।

यहाँ पूछा जा सकता है कि लक्षण-घटक 'आप्त' पद का क्या अर्थ विवक्षित है? क्या (१) यथा-दृष्टार्थवादी ? या (२) प्रमाणदृष्टार्थवादी ? या (३) यथा प्रमाणदृष्टार्थवादी ? प्रथम कल्प यथादृष्टार्थवादी का इतना ही अर्थ है कि जैसा देखा, वैसा ही कहनेवाला आप्त होता है। वह तो उस भ्रान्त वक्ता में

भी अतिप्रसक्त है, जो भ्रान्ति के द्वारा अवगत रजतादि का उपदेष्टा है- 'इदं रजतम्' । द्वितीय कल्प उस प्रतारक पुरुष में भी अतिव्याप्त होता है, जो प्रमाण के द्वारा शुक्ति देख कर अन्यथावादी है- इदं रजतम् । तृतीय कल्प भी आंशिक अन्यथावादी में अतिव्याप्त होता है- 'इदं चाकचिक्य-युक्तं रजतम्' । यहाँ 'इदं चाकचिक्ययुक्तम्' - इस अंश में तथाभूतत्व होने पर भी 'रजतम्' - इस अंश में अतथाभूतार्थवादी होने से वह आप्त नहीं माना जाता। यदि यथादृष्टार्थमात्रवादी आप्त माना जाता है, तब भी अव्याप्ति दोष बना रहता है, क्योंकि आप्त-लक्षण के लक्ष्यभूत प्रायः सभी पुरुष यथाप्रमितार्थमात्रवादी नहीं होते । 'यथाप्रमितस्यैव वक्ता यस्मिन् विषये आप्तः, तद्वाक्यं तत्र विषये प्रमाणम्'- ऐसा विषय-विशेष से नियन्त्रित लक्षण करने पर भी अव्यापकता बनी रहती है, क्योंकि एक विषय का वाक्य दूसरे विषय में प्रमाण नहीं हो सकता ।

सिद्ध- पूर्वपक्ष द्वारा उठाई गई सारी आपत्तियाँ निरर्थक हैं। सिद्धान्त में ‘आप्त’ से केवल वह पुरुष अभिप्रेत है जो किसी विषय का यथार्थ ज्ञान रखता हो और उसी यथार्थ को निष्कपट भाव से कहता हो। केवल जो जैसा देखे वैसा कह देने वाला व्यक्ति आप्त नहीं कहलाता।

जो पुरुष भ्रमवश शुक्ति में रजत देख कर ‘यह चाँदी है’ कह दे वह आप्त नहीं है क्योंकि उसमें वस्तु का यथार्थ ज्ञान ही नहीं है। इसी प्रकार जो पुरुष वस्तु को प्रमाण से जान लेने पर भी जानबूझकर उलटा बोले वह भी आप्त नहीं है क्योंकि आप्तत्व केवल जान लेने में नहीं सत्य कहने में है।

फिर जो वाक्य किसी अंश में सही और किसी अंश में गलत हो वह भी आप्तवाक्य नहीं कहलाता क्योंकि आप्त का वचन सम्पूर्ण रूप से यथार्थ ही होता है न कि मिला-जुला।

और जहाँ अभी निश्चय सिद्ध नहीं हुआ वहाँ संशय है न कि यथार्थ ज्ञान। संशय को आप्तत्व का आधार नहीं बनाया जा सकता।

अतः भ्रमित बोलने वाला छलपूर्वक बोलने वाला और आंशिक रूप से सत्य बोलने वाला — ये सब आप्त नहीं हैं। इस कारण पूर्वपक्ष की सारी बातें अशक्त हैं और आप्त-लक्षण का खण्डन नहीं कर सकतीं।

॥इति शब्दलक्षणनिर्णयः समाप्तः॥

॥ न्यायसत्कार्यवादनिर्णयः ॥

पूर्व - "कार्य उत्पत्ती से पूर्व अनुपलब्ध है" यही असत्कार्यवाद का सिद्धांत है। आस्तिक दर्शनों में यह सिद्धांत न्याय-वैशेषिक तथा नास्तिकों में मुख्यरूपेण बौद्ध दर्शन में दृष्टि-गोचर होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्धों का निर्वाण वस्तुतः न्याय-वैशेषिक के असत्कार्यवाद से ही प्रेरित है।"

THE BUDDHIST THEORY OF NIRVANA IS TRACED TO THE ASATKĀRYAVĀDA OF THE VAIŚEŞIKA"(IND. PHIO. VOL-II,PG.177)

1. किन्तु ध्यान रहे बौद्धों का सिद्धांत असत्कारणवाद है जो कारण विनाशपूर्वक कार्य की उत्पत्ति स्वीकारता है वहीं न्याय का सिद्धांत असत्कार्यवाद है जो कारण में ही कार्य की अनुपलब्धी स्वीकारता है यह दोनों सिद्धांतों में भेद है। (क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः न्या०सू० ॥४।१।१८।।)

न्याय दर्शन में ही प्रथम तो "प्रतितन्त्रसिद्धान्तः" (१.१.२९) में सांख्य से न्याय का पृथकत्व दिखाते हुए भाष्कार कहते हैं--"नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानम्" यह सांख्य के सिद्धांत का उल्लेख करते हुए" असदुत्पद्यते" से न्याय से प्रतितंत्रता का प्रदर्शन करते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि न्याय असत्कार्यवाद का ही पोषक है।

मुख्यरूप से यह बात "नासन्न सन्न सदसत्; सदसतोर्वैधर्म्यात् ?" सूत्र से स्पष्ट होती है। इस सूत्र में पूर्वपक्ष की ओर से प्रश्न प्रस्तुत किया। भाष्यकार ने तदिदं प्राङ् निष्पत्तेनिष्पद्यमानम् कहकर पूर्वपक्ष की ओर सकेत किया तत्पश्चात

तात्पर्यटीकाकार ने स्पष्ट पूर्वपक्ष का उल्लेख किया-

फलाभावमभिधित्युः पूर्वपक्षयति

तत्पश्चात भाष्यकार ने सिद्धांत कहा-

"प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धा"

वार्तिककार ने सा असदुत्पादे सति युज्यते। विनाशश्चोपलब्धस्वरूपस्य पुनरनुपलब्धिरिति। कह सिद्धांत की ओर सकेत किया तथा "न चैतत् सर्वनित्य-वादिनः संभवति।" से सत्कार्यवाद का खण्डन प्रारंभ किया (न पुनः सत्कार्यवादिनः कहकर स्पष्टरूप से सत्कार्यवाद का नामोल्लेख किया) तात्पर्यटीकाकार ने भी इसको सिद्धांत पक्ष ही माना। सिद्धात्र्याह-

प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धाः। अपि च, एक और सूत्र में सकेत सूत्रकार की ओर से किया गया।

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च (२.२.१२) से कार्य की प्रागानुलब्धी की ओर संकेत किया।

भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से

तत्रालक्षितेषु वासस्सु प्रागुत्पत्ते रविद्यमान तालक्षणो लक्षणानामभावः, नेतर इति।

कहकर उत्पत्ति पूर्व कार्य का अभाव सूचित किया।

शंका--कार्य के रूपादि के अभाव का कथन क्यों न लें?

समाधान- क्योंकि विशेष का कथन नहीं। घटाभाववद् भूतलम् से घटत्वाछिन्न घटाभाव ही लिया जाता है। नील घटाभाववद् भूतलम् कहनेपर पीत घट की कल्पना हो सकती है।

समन्वयवादियों का खण्डन भी क्या किया जाए? सिद्धांत का सम्यक ज्ञान न हो सकने के ही कारण वह इस स्वकल्पित महान कार्य पर निकलते हैं। कुछ कहा कहना है कि न्याय के बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ।।४।१।७०॥। द्वारा उत्तपत्ति पूर्व कार्य की बुद्धि सत्ता स्वीकार की गई है। इसपे विचार किया जाए।

कार्य भाष्यकार ने अवतरण दिया-- यत्पुनरुक्तम्-प्रागुत्पत्तेः नासदुपादाननियमादिति ? असत् उत्पत्ति में उपादान नियम कैसे बनेगा? सूत्रकार ने उत्तर दिया।" बुद्धिम्.. इति" भाष्यकार ने दो ध्यान दोने योग्य बातें कहीं एक तो इदमस्योत्पत्तये समर्थ न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारण कार्य बुद्धया सिद्धस्ः उत्पत्तिनियमदर्शनात्।

उपादान नियम सामर्थ्य परक है। वार्तिककार ने कहा नायं सत्त्वादुपादाननियमो ऽपि तु सामर्थ्यात्। स्पष्ट रूप से बुद्धि को सत् उपस्थित परक लेने से निषेध कर दिया। तात्पर्यटीकाकार ने कहा "तच्च सामर्थ्यमानुमानिकम्।" सामर्थ्य अनुमान सिद्ध है। अब लो! सत्कार्यवाद में हो चुका समन्वय। निष्कर्ष यह है कि सूत्रघटक बुद्धि पद कार्यगत सामर्थ्य का वाचक है, कार्याव्यक्तावस्था ज्ञान परक नहीं। किन्तु समन्वयावदी ने इसको अव्यक्त कार्य बुद्धि परक किया जोकि स्पष्ट रूप से छल है! दूसरी मजेदार बात भाष्यकार ने कही सति तु कार्ये प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति । अब क्या? यह तो स्पष्ट रूप से सत्कार्यवाद पे प्रहार किया गया। अच्छा समन्वय से पलटकर पूछा जाए कि कपालद्वय संयोग को आपने भी घट के प्रति समवायी कारण मान कैसे लिया? फिर तो मृत्तिका में घट साक्षात सम्बन्धेन जाना असम्भव है। आपने स्वय" द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्" सूत्र पर कहा कि "तन्तु का रूप ही पटगत रूप नहीं है" तथा पट में तन्तुगत रूप को" स्वसमवायिसमवेतत्व" संबंध से बिठाया वो सत्कार्यवाद में कैसे सम्भव

है? यह बात आपके विवेक में क्यों नहीं आई ? रूढ़िवादी मानसिकता के चलते सिद्धांतों की प्रक्रिया को अंदेखा करके कुछ भी समन्वय करते हुए बोलना विद्वानों के लिए अच्छी बात नहीं। तभी तो समन्वयवादियों के समन्वय विद्वत समाज में देखने को भी नहीं आते! चर्चा को तो बहुत दूर की बात है। यदि समन्वय हो सकता तो हम प्रथम

पक्ति में उपस्थित होते।

सिद्ध - पूर्वपक्ष का यह तर्क बालसुलभ प्रतीत होता है, क्योंकि भाष्यकार ने केवल प्रतितन्त्रसिद्धान्त का उदाहरण दिया है; उन्होंने यह नहीं कहा कि "सांख्यदर्शनस्य सिद्धान्तः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः यतो न्याये सांख्यवत् सत्कार्यवादो नाङ्गीकृतः।" अतः जब यह बात स्पष्ट रूप से कही ही नहीं गई, तो ऐसा अर्थ करना पूर्णतः अनुचित है।

पूर्वपक्ष ने तात्पर्यटीका और वार्तिक के भी प्रमाण दिए हैं, पर वे सिद्धान्त-पक्ष में आते ही नहीं; इसलिए उनका प्रमाण प्रस्तुत करना व्यर्थ है। शेष बात यह है कि "बुद्धिसिद्धं तु तदसत्" आदि सूत्रों और उनके भाष्यों की चर्चा करते हुए यह कहा गया है कि ऋषि वात्स्यायन ने दो सूत्रों में सांख्य के सूत्र का उद्धरण दिया है, तो वे सांख्य का विरोध क्यों करेंगे? और सत्कार्यवाद के मत में भी यही माना जाता है कि कार्य कारण में असत् रूप में रहता है। पर इस "असत्" का अर्थ क्या है? तो यह कहा जा सकता है कि उत्पत्ति के अनन्तर कार्य जिस आकार-प्रकार में अभिव्यक्त

हुआ है, उससे पूर्व वह अनभिव्यक्त रहता है। यही उसकी अविद्यमानता और असत्ता का स्वरूप है। अतः पूर्वपक्ष का कोई भी तर्क ठीक प्रतीत नहीं होता।

अब "बुद्धिसिद्धं तु तदसत्" सूत्र की अधिक व्याख्या करते हुए कहा जाता है कि—

सत्कार्यवाद यह मानता है कि प्रत्येक कार्य अपनी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के पूर्व कारण में विद्यमान रहता है। कार्य अपनी जिस विशिष्ट आकृति आदि के साथ अभिव्यक्त होने वाला है, वह उसके कारणों में अन्तर्निहित रहती है। यदि ऐसा न हो, तो उनका परस्पर कार्य-कारणभाव सम्भव ही न होगा। कारणों में अन्तर्निहित कार्यरूप को शिल्पी तथा कर्ता अनुकूल प्रक्रिया द्वारा अभिव्यक्त कर लेता है। असत्कार्यवाद का केवल इतना तात्पर्य है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व उसी अवस्था में नहीं रहता, जिस अवस्था में उत्पत्ति के अनन्तर वह विद्यमान रहता है। कार्य की यही अवस्था व्यवहारयोग्य है। इसी दशा में वस्तु की अर्थक्रियाकारिता सम्भव होती है। फलतः व्यवहार में जब कारण को महत्त्व दिया जाता है, तब 'सत्कार्यवाद' कहा जाता है, और जब कार्य को महत्त्व दिया जाता है, तब 'असत्कार्यवाद' का प्रयोग होता है।

न्यायदर्शन में सूत्रकार गौतम—

"बुद्धिसिद्धं तु तदसत्" न्या० सू० ४।१।५०॥

प्रादुर्भाव से पूर्व जिस कार्य को 'असत्' कहा जाता है, उसकी बुद्धिसिद्ध सत्ता रहती है। हम जानते हैं कि यह कार्य इन्हीं कारणों से अभिव्यक्त होगा।

उन्होंने उत्पत्ति से पूर्व कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता को कारण में स्वीकार किया है। यदि ऐसा न माना जाए, तो कार्य-कारण की व्यवस्था सम्भव नहीं; क्योंकि कारण में यदि कार्य का सर्वथा अभाव है, तो सर्वथा अभाव के समान होने से कोई भी कार्य कहीं से भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि किन्हीं विशिष्ट कारणों से ही विशेष कार्य का प्रादुर्भाव सम्भव हो। कार्य के कर्ता या शिल्पी को पहले ही यह निश्चय होता है कि अमुक कार्य का प्रादुर्भाव किन कारणों से हो सकता है। वह उन्हीं का उपादान करके कार्य को प्रकट कर देता है। इसी स्थिति का नाम कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता है। सत्कार्यवाद में भी यह नहीं माना जाता कि कार्य की जो अवस्था प्रादुर्भाव के अनन्तर स्पष्ट होती है, वही ठीक-ठीक पहले भी रहती हो। प्रादुर्भाव से पूर्व कार्य कारणरूप से विद्यमान रहता है, पर बुद्धि में कार्य का पूर्ण आभास कार्य की अभिव्यक्ति से पूर्व भी रहता है। इस मान्यता का केवल इतना तात्पर्य है कि वह कार्य उन्हीं विशिष्ट कारणों से ही आत्मलाभ कर सकता है। यह तथ्य दोनों वादों के आपाततः प्रतीत होने वाले शाब्दिक विरोध को दूर कर देता है। ऋषि वात्स्यायन ने सत्कार्यवाद के विषय में उपादाननियमात् यह सांख्य का

1/115 सूत्र उद्धृत करके कहा है कि यदि कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व कारण में न हो, तो उपादान कारण का नियम कैसे बन सकेगा; इसलिए यह कहना ठीक नहीं कि कार्य अभिव्यक्ति से पूर्व कारण रूप में नहीं रहता।

और आगे वे कहते हैं कि यदि कोई कहे कि कार्य अभिव्यक्ति से पूर्व कारण में कार्य रूप से, उसी आकार-ढंग से रहता है, तो यह भी सम्भव नहीं; क्योंकि यदि वह कार्य रूप से ही विद्यमान है, तो उसकी उत्पत्ति कहना ही व्यर्थ है। इस प्रकार स्वयं ऋषि ने केवल सत्कार्यवाद का उल्लेख नहीं किया, बल्कि उसके सिद्ध करने के लिए सिद्ध सांख्य का सूत्र भी उद्धृत कर दिया।

अतः अब समस्त सूत्रों के संग्रह को देखने से इतना समझ में आता है कि सूत्रकार और भाष्यकार सत्कार्यवाद तथा असत्कार्यवाद दोनों की सिद्धि कर रहे हैं, और दोनों ही अपने-अपने पक्ष में ठीक माने जाने चाहिए; क्योंकि व्यवहार में असत्कार्यवाद सिद्ध होता है, किन्तु बुद्धिसिद्धि से सत्कार्यवाद सिद्ध है। अतः दोनों ही अपने-अपने पक्ष में ठीक हैं। यही सूत्रकार बता रहे हैं।

इति न्यायमतस्थसत्कार्यवादनिर्णयः समाप्तः।

इति पाखण्डकुतर्कखण्डने समाप्ते सति अस्य वैदिकन्यायप्रबोधग्रन्थस्य प्रयोजनम् अपि सम्पन्नम्। अतः वैदिकन्यायप्रबोधः समाप्तः।